ईशावास्य
(प्रवचन)

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

ईशावास्य

(प्रवचन)

प्रवचन :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

प्रकाशक

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई/वृन्दावन

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

‘विपुल’ 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो. : 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

द्वितीय संस्करण नवम्बर 1977
तृतीय संस्करण अक्टूबर 1997
चतुर्थ संस्करण अप्रैल 2003
पंचम संस्करण अगस्त 2011
षष्ठ संस्करण 500
आराधन उत्सव
नवम्बर 2019

●

मूल्य : ₹ 120/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
मो. : 9415624020, 9004039136

षष्ठ संस्करण : 2019

प्रकाशकीय

उपनिषदोंमें 'ईशावास्यका अपना महत्वपूर्ण स्थान है, संयोगसे **परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके** द्वारा इस उपनिषद् पर छः श्लोकोंके प्रवचन उपलब्ध हुए थे। जिसके आधार पर **श्रीमती सतीशबाला जेठी** और **स्वामीश्री विश्वात्मानन्दजीने** पहलेकी मूल प्रतिको टेपके अनुसार परिष्कृत किया, शेष भागको पूर्वरूपमें रखते हुए स्व० गोविन्द नरहरि बैजापुरकरने अन्वयार्थ जोड़ दिया था। हम इन सभीके आभारी हैं।

परमपूज्य महाराजश्री **स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजीके** आशीर्वाद अनुकम्पाके फलस्वरूप सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा ईशावास्य (प्रवचन)का षष्ठ संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

-सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई / वृन्दावन

अनुक्रमणिका

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

आमुख

संस्कृत वाङ्मयमें उपनिषद् शब्दका अर्थ ग्रन्थविशेष नहीं, विद्याविशेष है। ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है। विद्याका उदय हृदयमें होता है। जिस विषयकी विद्या उदय होती है, उस विषयकी अविद्याको निवृत्त कर देती है। घटज्ञान घटके अज्ञानका नाशक है। ब्रह्मका ज्ञान ब्रह्मके अज्ञानका नाशक है। विवेक-दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट ज्ञात होता है कि व्यवहारमें परिच्छिन्न वस्तुओंको जो इतना सत्त्व, महत्त्व, प्रसिद्धि एवं सुख-साधनत्व प्राप्त है, वह जगत्के मूलभूत अबाधित पदार्थ ब्रह्मके अज्ञानसे ही है। यह सर्वावभासक स्वयंप्रकाश प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है। ब्रह्मसे यह अभिन्न है और इससे ब्रह्म अभिन्न है। यही ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या अथवा ऐक्यविद्या उपनिषद् है।

ब्रह्म, आत्मा अथवा ऐक्य-पदार्थकी अनुभूति, उसकी यथार्थ प्रमा उपनिषद्के अतिरिक्त और किसी भी प्रमाणसे नहीं हो सकती। चक्षु, त्वचा, रसना आदि प्रमाण केवल बाह्य पदार्थोंके केवल एक अंशका ही ग्रहण करते हैं। वे पूर्ण ब्रह्म अथवा अपने प्रकाशक आत्माको प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं और अद्वैत वस्तुको तो सुतरां प्रकाशित नहीं कर सकते। सिद्ध पुरुषोंके वचन भी इस सम्बन्धमें प्रमाण नहीं हो सकते; क्योंकि उन सिद्धोंमें भी तपस्या एवं सिद्धियोंका न्यूनाधिक्य देखनेमें आता है। समाधिमें भी तारतम्य होता है और समाधिसे संस्कारोंका निःशेष क्षय होता भी नहीं। समाधि भी चित्तकी एक अवस्था है और वह प्रमेयका साक्षात्कार करानेके लिए अपेक्षित प्रमाणवृत्ति नहीं है। सबसे बड़ी बात यह है कि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है, साध्य नहीं इसलिए वह साधनगम्य भी नहीं है, अतएव उसके

साक्षात्कारके लिए अज्ञान-मूलक आवरणको भङ्ग करनेके लिए विद्यावृत्ति अपेक्षित है। अतएव वस्तुतः ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है।

'ईशावास्य' इत्यादि अष्टादश मन्त्रसमूह शुक्ल यदुर्वेदान्तर्गत माध्यन्दिनी शाखाके चालीसवें अध्याथके रूपमें हैं। प्रथम मन्त्रके अनुसार ही उपनिषद्का नामकरण हुआ है। इसमें ब्रह्मज्ञान तथा उसके उपयोगी साधनों, बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग-दोनोंका स्पष्ट निरूपण हुआ है। मन्त्रसंहिताका होनेके कारण यह उपनिषद् सर्वमान्य है। यदि इसपर लिखे गये भाष्य, टीका-टिप्पणियोंको छोड़ भी दिया जाय तो भी मूल मन्त्रसंहिताका स्वाध्याय करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल मन्त्रोंमें तत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्तकी क्या रूपरेखा निश्चित की गयी है।

शुक्ल यजुर्वेद-संहिताके बत्तीसवें अध्यायमें कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनका देवता आत्मा और विनियोग सर्वहोम कर्ममें है। ये सब मन्त्र सर्वमेव-सम्बन्धी हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब यजमान सर्वहोम अथवा सर्वमेध करता है, तब इन मन्त्रोंका अनुसन्धान करता है। इन मन्त्रोंमें कार्य-कारण परस्पर ओत-प्रोत भाव दिखाया गया है। जगत्के सभी पदार्थ अपने कारणसे अभिन्न हैं, उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सर्वमेधयाजीके लिए केवल उसी कर्ममें जो अनुसन्धेय मन्त्र हैं, वे ब्रह्मज्ञानीके सर्वावस्थामें, सर्वकर्ममें सहजसिद्ध बोध-सङ्गीत हैं। उसके रोम-रोम मानो उन्हीं मन्त्रोंका गान कर रहे हों; क्योंकि अज्ञान-दशामें भावनात्मक सर्वमेध है, ज्ञान-दशामें स्वतः-सिद्ध सर्वबाध है; इसलिए सर्व ब्रह्मात्मक है। यथा-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।

'ब्रह्म ही अग्नि और अग्नि ब्रह्म ही है। सूर्य ब्रह्म है और ब्रह्म ही

सूर्य है। वही वायु है, वही चन्द्रमा है और वायु-चन्द्रमा भी ब्रह्म ही हैं। वही लोकप्रसिद्ध शुद्ध वेद है और शुद्ध वेद ही वह है। वे जल और वह प्रजापति ब्रह्म ही हैं और ब्रह्म ही जल और प्रजापति है।'

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।।

'कला, काष्ठा, संवत्सर आदि कालके सब सूक्ष्म-स्थूल भेद तथा विद्युत्, पर्जन्य आदि इस स्वयंप्रकाश पुरुषसे ही प्रकट हुए हैं। इस सर्वकारणकारण पुरुषको ऊपर-नीचे, आड़े-टेढ़े कहींसे कोई ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय नहीं है, केवल वेदवचनके द्वारा ही इसका ज्ञान होता है।'

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।

'उस पूर्ण पुरुषकी प्रतिमा अर्थात् प्रतिमान-तुलना करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है; क्योंकि उसका यश महान् है। उसकी बराबरीका यश किसीका नहीं है।'

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।।

'यह स्वयंप्रकाश परिपूर्ण परमात्मा दिशा-विदिशा, ऊपर-नीचे आड़े-टेढ़े, सर्वदेशमें व्याप्त है। वह पहले विद्यमान रहता हुआ ही प्रकट होता है। वही माताके गर्भमें भी है। वही था, हुआ और होगा। सब पदार्थोंमें वही है। मनुष्यो! वही सर्वतोमुख है। सब आँखें, सिर, ग्रीवा, हस्त, पाद उसीके हैं। वह अपनी अनिर्वचनीय मायाशक्तिसे सर्वरूपमें प्रकट हो रहा है।'

यस्माज्जातं न पुरा किञ्च नैव

'जिससे पहले कुछ भी नहीं था, जो सम्पूर्ण विश्वके रूपमें प्रकट हुआ।'

वेनस्तत् पश्यन् निहितं गुहासद्
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳसं च वि चैति सर्व
स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।।

'जिसने वेदान्तका रहस्य जान लिया है उसने देखा कि वस्तु मानो एक गुहामें रख दी गयी है। उसमें संसारकी ये पृथक्-पृथक् वस्तुएँ बिना विभागके रहती हैं। प्रलयके समय उसीमें सब विभागोंका उपसंहार होता है। सृष्टिके समय सब कुछ उसीसे प्रकट होता है। वही परमात्मा सबमें ओतप्रोत है, जैसे वस्त्रमें सूत्र। अभिप्राय यह कि वही सब है। उससे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।'

आगेके मन्त्रोंमें कहा गया है कि जिसने सर्वाधिष्ठान परमात्माको जान लिया, वह पिताका भी पिता है अर्थात् परं ब्रह्म है-

यस्तानि वेद स पितुः पितासत्।

वही हमारा हितैषी बन्धु, आदरणीय पिता और हमारा सच्चा पालन-पोषणकर्ता है, जिसने परमात्माको पहचान लिया है-

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।

'उस ब्रह्मज्ञानीने सम्पूर्ण भूतोंको, लोकोंको, दिशा-विदिशाओंको ब्रह्मरूपसे जानकर और इस वैदिक वाणीका आश्रय लेकर अपने स्वरूपभूत ब्रह्ममें स्थिति प्राप्त कर ली।'

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्-इत्यादि।

सर्वमेधयाजीने तत्काल अनुभव किया कि आकाश और पृथिवी ब्रह्म हैं, लोक ब्रह्म हैं, दिशाएँ ब्रह्म हैं और आदित्य भी ब्रह्म हैं। उसने तुरन्त यज्ञोंके विस्तारको काट दिया। उसने ब्रह्मको जाना और वह तत्काल अपनेको ब्रह्म अनुभव करने लगा; क्योंकि वह पहलेसे ब्रह्म ही था।

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा
परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ।।

इस प्रकार ईशावास्योपनिषद्की पृष्ठभूमिपर विचार करते हैं तो वहाँ ब्रह्मदृष्टिकी ही प्रधानता है। उद्धृत मन्त्रोंमें सब पदार्थोंको और कालके सब अवयवोंको ब्रह्मसे अभिन्न बताया गया है। वह किसी भी प्रमाणका विषय नहीं है और इसका कोई प्रतिमान भी नहीं है। वह सर्व दिशा-विदिशा, अन्तर्देश और बहिर्देशके रूपमें प्रकट होता है और सारे रूप तथा आकार उसीके प्रकाश और विलास हैं। महावाक्योंके द्वारा ही उसका ज्ञान होता है, ब्रह्मज्ञानीकी अपार महिमा है, ब्रह्मज्ञानसे कर्मविधिकी निवृत्ति हो जाती है और वस्तुतः ब्रह्म पहलेसे ही अपना आत्मा है, आत्माको ब्रह्म होना नहीं पड़ता, वह ब्रह्म है ही। इसीसे श्रुतियोंमें 'तदेव ब्रह्म तदु हैव विद्मः' तथा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादि वचन है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा स्वतःसिद्ध ब्रह्म है, केवल अज्ञानके कारण अपनेको परिच्छिन्न मानता है : ईशावास्योपनिषद्में जिस ईशके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को आवासित करनेका आदेश है, वह ईश ही वस्तुतः सत्यतत्त्व है, ब्रह्म है और उसके अज्ञानसे ही जगत् भिन्न-भिन्न रूपोंमें भास रहा है। तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर वह ब्रह्म ही है। इसी प्रकार जो ब्रह्म है, ईश है, वही आत्मा है। आत्माको ब्रह्म अथवा ईशके रूपमें न जानना आत्महत्या है। इस आत्मघातीको ही बारम्बार जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ना पड़ता है। इस उपनिषद्में ब्रह्मके स्वरूपका अपूर्व निरूपण एवं ब्रह्मज्ञानीकी असाधारण महिमाका गान किया गया है। ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त होता है। इन सब

वर्णनोंके कारण ही 'ईशावास्य' इत्यादि मन्त्र उपनिषद् हैं, ब्रह्मविद्या हैं। इन मन्त्रोंमें जो ब्रह्मविद्याके अतिरिक्त कर्म, उपासना आदिके अन्य निरूपण प्रतीत होते हैं, वे जिज्ञासुके चित्तको ब्रह्मविद्याके उदय-योग्य बनानेके लिए हैं। निर्विशेष ब्रह्मज्ञानका कर्म और उपासनाके अनुष्ठानमें कोई उपयोग नहीं है; क्योंकि वह तो आत्माको अकर्ता, अभोक्ता, अपरिच्छिन्न, असंसारी बतलाता है। सविशेष ज्ञान ही कर्म, उपासनामें उपयोगी है। इसलिए कर्म और उपासनाके साथ समुच्चयके प्रसंगमें जिस ज्ञानका निरूपण है, वह कर्मोपासना सम्बन्धी ज्ञान है। उसी ज्ञानके अनुसार कर्म और उपासनाका अनुष्ठान होता है। निश्चय ही अनुष्ठान अन्तःकरणका शोधक होता है। इसी दृष्टिकोणसे विद्या-अविद्या एवं सम्भूति-असम्भूतिके समुच्चयका निरूपण तथा प्रार्थनाएँ हैं।

साधनरूपसे कर्म एवं उपासनामें अनुष्ठानकी विधि, श्रद्धा, अधिकारी, कर्ता, फल और साधनाका स्वरूप पृथक्-पृथक् होते हैं। उनमें कर्ता अधिकारी है, श्रद्धा उसका सम्बल है, विधिके अनुसार वह क्रिया और भावना करता है और उससे साध्यरूप फलकी उपलब्धि होती है। साधनका फल है साध्याकारवृत्ति। वह अभ्यासजन्य वृत्तिका तदाकार परिणाम है; परन्तु ज्ञानमार्ग इससे विलक्षण है। उसमें कर्मोपासनाके अनुष्ठानसे इस जन्ममें या पूर्व जन्ममें किये हुए सत्कर्मके परिपाकसे विवेक-वैराग्यका उदय होता है, तदनन्तर शमादि सम्पत्ति जीवनमें प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। इसके बाद मनुष्य मुमुक्षु होकर सद्गुरुकी शरण ग्रहण करता है। सद्गुरुके पास उपनिषदोंका स्वाध्याय एवं श्रवण करनेसे महावाक्यके द्वारा ब्रह्मज्ञानका उदय होता है। संशयकी निवृत्तिके मनन और विपर्ययकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासनकी अपेक्षा होती

है। संशय-विपर्यय न हो तो महावाक्यके श्रवणमात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। तत्त्वज्ञानका अर्थ है अपने-आपको ब्रह्मस्वरूप जानना। जाननेका अर्थ है साक्षादपरोक्ष अनुभव, जिससे अविद्याकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय। यह ब्रह्मात्मबोध कर्मोपासनाका अङ्ग नहीं है; परन्तु कर्म, उपासनाके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसलिए उपनिषद्के नवें मन्त्रसे लेकर अठारहवें मन्त्रतकका प्रसङ्ग साधनाका ही वर्णन है, ब्रह्मज्ञानके अनन्तर होनेवाले कर्मका नहीं।

'ईशावास्योपनिषद्' मुझे बाल्यावस्थासे ही अत्यन्त प्रिय है। अबसे पच्चीस-छब्बीस वर्ष पूर्व जब इस उपनिषद्के कुछ मन्त्रोंके सम्बन्धमें 'कल्याण'के 'वेदान्ताङ्क'में कुछ विपरीत उद्भावनाएँ की गयी थीं, तब मैंने उनका समाधान लिखा था। तबसे अबतक कितनी ही बात इसके अध्ययन-अध्यापनके अवसर प्राप्त हुए। इधर तीन-चार वर्षोंमें कई बार इस उपनिषद्पर प्रवचन भी करना पड़ा। नैनीतालके 'गजनिकुंज'में, मुम्बईके 'भारतीय विद्याभवन'में, ऋषिकेशके 'परमार्थ-निकेतन'में कई लोगोंने बड़े प्रेमसे श्रवण किया। हमारे अनेक श्रोताओंकी प्रबल इच्छा थी कि यह प्रवचन प्रकाशित हो। इस बार वृन्दावनमें जब प्रवचन हुआ तब 'कल्याण'के सुप्रसिद्ध लेखक और मेरे चिर मित्र भाई सुदर्शनसिंहजी 'चक्र'ने पूरा-पूरा श्रवण किया और कुछ-कुछ संकेत ले लिये। बादमें उन्होंने अपनी कुटियामें बैठकर उनका विस्तार कर लिया और मुझे दिखाया। मुझे उनके श्रवण, स्मरण और धारणकी शक्तिपर बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने उसे ज्यों-का-त्यों सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टको प्रकाशित करनेके लिए दे दिया। हमारे एक परम स्नेही भक्तने जिनका इस उपनिषद्को प्रकाशति करनेका बहुत आग्रह था,

इसके मुद्रणका समस्त व्यय ट्रस्टको दिया है। यह पुस्तक अधिकांश हमारी प्रवचनकी भाषामें ही है। कहीं-कहीं थोड़ा बहुत फेर-बदल होना भी सम्भव है : क्योंकि स्मृति प्रमाण-कोटिमें नहीं आती। फिर भी यह जितना, जो कुछ है वह उपनिषद्का भावार्थ और अभिप्राय हृदयङ्गम करनेके इच्छुक जिज्ञासुओं एवं भक्तोंके लिए अत्यन्त उपयोगी है और भक्तोंके लिए भी, जैसा कि प्रवचनके समय किया गया था, भक्तिवर्द्धक है। जो लोग व्यवहारमें लगे हुए हैं उनके लिए भी यह व्यावहारिक दिशा-निर्देश देता है और सर्वथा हितकारी है। आशा है, प्रेमीगण इससे लाभ उठावेंगे।

मुम्बई
श्रावण अमावस्या　　　　-अखण्डानन्द सरस्वती
स. 2019

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ=मंगल हो! **अदः**=वह सर्वकारण कारण ब्रह्म, जो केवल अज्ञान होनेके कारण ही परोक्ष है; **पूर्णम्**=पूर्ण है। **इदम्**=यह दृश्यमान जगत् भी तत्त्वतः वही होनेसे; **पूर्णम्**=पूर्ण है। **पूर्णात्** =पूर्णसे; **पूर्णम् उदच्यते**=पूर्ण ही प्रकट होता है। **पूर्णस्य पूर्णम् आदाय**=पूर्णकी पूर्णताका ज्ञान हो जानेपर; **पूर्णम् एव अवशिष्यते**=केवल पूर्ण ही शेष रहता है, अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्मसे अध्यस्त पृथक् नहीं रहता। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=त्रिविध तापकी शान्ति हो।

शान्तिपाठकी आवश्यकता :

सामान्यतः चित्तकी पाँच अवस्थाएँ स्वीकार की गयी हैं : रजः प्रधान 'क्षिप्त', तमः प्रधान 'मूढ', किंचित् रजः सहित सत्त्वबहुल 'विक्षिप्त', विशुद्ध सत्त्वप्रधान 'एकाग्र', संस्कारमात्र शेष 'निरुद्ध'। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओंमें ही उपनिषद्का अर्थ गृहीत होता है।

जब जिस चित्तमें आलस्य और प्रमाद होता है, तब उस चित्तको 'मूढ' कहा जाता है। आलस्य माने होता है अलसका भाव : **अलसस्य भावः आलस्यम्**। और 'अलस' शब्द वास्तवमें 'अरस'का ही रूपान्तर होता है, क्योंकि 'ल' और 'र'का अभेद अलंकारशास्त्री स्वीकार करते हैं। अतः 'आलस्य' शब्दका अर्थ है 'स्वादरहित होनेका भाव।' जब मनुष्यको अपने काममें स्वाद नहीं आता तो उसका यह भाव आलस्यके रूपमें प्रकट होता है। स्वाद न आनेके कई कारण हो सकते हैं जैसे शरीरको यथोचित विश्राम न

मिलना, कार्यके प्रति अरुचि होना अथवा परतन्त्रताका अनुभव होना इत्यादि।

इसी प्रकार, प्रमाद माने होता है व्यर्थ चेष्टा। जो करना चाहिए उसे न करना और जो नहीं करना चाहिए अथवा जिसको करनेसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता ऐसा काम करना-यही प्रमादका लक्षण है। असावधानी भी प्रमादके ही अन्तर्गत है। आलस्य और प्रमाद दोनों तमोगुण हैं और आलसी-प्रमादी चित्त मूढ चित्त है।

विक्षेप रजोगुणका अंग है। यह एकाग्रताका उल्टा है। चित्त जब एक विषयके आकारको अधिक समय तक नहीं धारण करता है और जल्दी-जल्दी चिन्तनके विषय बदलता रहता है, तब ऐसे चित्तको 'विक्षिप्त' कहा जाता है। विक्षिप्त चित्तमें न स्मृति तीव्र होती है और न धारणा। फलतः गम्भीरता, सहिष्णुता, मननशीलता आदि गुण भी विक्षिप्त अन्तःकरणमें नहीं होते तथा चिन्ताओंसे मुक्ति भी उसको नहीं मिलती।

विक्षेपका अर्थ है कि आप बैठे हैं यहाँ और आपने अपने मनको बहुत दूर विपरीत दिशामें फेंक दिया है। विविध दिशाओंमें मनके क्षेपण (फेंकने)का नाम विक्षेप है।

अब यदि आपको आलस्य या प्रमाद होगा, सावधानीसे बात नहीं सुनेंगे या फिर चित्तमें विक्षेप होगा, मकान, दूकान, घर, व्यापारकी चिन्तामें निमग्न होंगे, तो आपको उपनिषद्‌का अर्थ गृहीत नहीं होगा। आपका मन यहाँ-वहाँ भटक रहा है या कहीं नहीं लग रहा है-दोनों दशाओंमें औपनिषद् ज्ञान आपको ग्रहण नहीं होगा।

चित्तकी इन मूढ और विक्षिप्त दशाओंके शिथिलीकरणके लिए ही प्रत्येक उपनिषद्‌के प्रारम्भमें शान्ति-पाठकी योजना है। शान्तिपाठका अर्थ होता है कि आपके मनसे आलस्य भाग जाय, प्रमाद दूर हो जाय, आपका मन सिमटकर आपके हृदयमें आजाय,

और आप सावधान होकर, उत्साहित चित्तसे एकाग्रतापूर्वक औपनिषद् ज्ञानका श्रवण करें। असलमें ब्रह्मज्ञानके रसका स्थायी भाव शान्ति ही है।

शान्तिपाठोंमें सामान्यतः प्रार्थना द्वारा, स्तुतिद्वारा अथवा उसमें स्वरूप-कथन द्वारा श्रोताका चित्त उस परमतत्त्व 'ब्रह्म'के प्रति अभिमुख करते हैं जिससे आत्माके साथ नित्यसिद्ध ऐक्यानुभूति ही सब उपनिषदोंका सार है :

वेद उपनिषद् एवं ईशावास्योपनिषद् :

दुनियामें कोई ऐसा मजहब या धर्म नहीं है जो वेदके समान ज्ञानका स्वरूप स्वीकार करता हो। जितने मजहब हैं उनका जो ग्रन्थ होता है वह किसी कालविशेषमें, भूगोलके किसी देशविशेषमें और किसी आचार्यविशेषके द्वारा प्रकट होता है और वह ग्रन्थ उस मजहबके अनुयायियोंके लिए होता है। उनके उस ग्रन्थका ज्ञान उस कालसे पहले प्रकट नहीं रहता जिस कालमें उसका आविर्भाव होता है। परन्तु ज्ञानके सम्बन्धमें वेदका यह कहना है कि ज्ञान हमेशा रहता है, यहाँ तक कि ईश्वरने भी जब सृष्टि बनायी तो उसके पहले भी ज्ञान था। ईश्वरमें यदि ज्ञान न होता तो वह सृष्टि ही कैसे बनाता? ईश्वर ही अज्ञानी हो जाता।

जिस ज्ञानक कारण ईश्वर ईश्वर बना हुआ है और जिस ज्ञानसे ईश्वर सृष्टिकी रचना करता है, ज्ञानका वह स्वरूप न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होता है। न वह इतिहासका बालक है, न वह भूगोलके किसी देशमें पैदा हुआ है और न किसी एक आचार्यको उसने अपना पात्र बनाया है। वेदज्ञान कोई व्यक्तिगत विश्वास नहीं है और वह किसी एक व्यक्तिके अनुयायियोंके लिए भी नहीं है; वह सार्वभौम है एवं सम्पूर्ण विश्वके लिए है। सम्पूर्ण विश्वको उत्तम आचरणमें स्थापित करनेके लिए एवं अनुत्तम ज्ञान

देनेके लिए, हर समय, हर जगह, हर जातिको हर वस्तुका ज्ञान देनेके लिए, ये वेद भगवान् प्रकट हुए हैं।

वेदके दो विभाग हैं : आचार-मीमांसा विभाग एवं तत्त्व-मीमांसा विभाग। क्या खाना, क्या न खाना, क्या करना, क्या न करना, इस लोकके सुखके लिए अथवा मरनेके बाद परलोकके लिए क्या कर्म करना और क्या न करना तथा करणीय कर्मको भी किस विधिसे करना, इत्यादि; ये सब आचारमीमांसा-विभाग अथवा धर्म-विभाग हैं। इसमें वेदका मन्त्र-संहिता-विभाग प्रमाण हैं।

पृथिवी तत्त्व क्या है, जल तत्त्व क्या है, अग्नि क्या वस्तु है, सृष्टिका मूल उपादान क्या है, जीव क्या है, आत्मा क्या है, बन्ध क्या है, मोक्ष क्या है, इत्यादि सब प्रश्नोंकी मीमांसा वेदके जिस विभागमें है उसको तत्त्वमीमांसा-विभाग कहते हैं। इसमें उपनिषद् प्रमाण हैं।

इस प्रकार धर्मज्ञानमें मन्त्रसंहिता और तत्त्वज्ञानमें उपनिषदोंका प्रमाण लेकर सम्पूर्ण वेदका विचार होता है।

धर्मज्ञान धर्मीको या तो कर्ममें प्रवृत्त करता है और या कर्मसे निवृत्त करता है। अतः प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण वेदज्ञान (चाहे वह संहिताका अंश हो अथवा उपनिषद्का) कर्ममीमांसाका अंग है। उसका उद्देश्य जीवनको अनुशासित, सुखमय एवं निर्बन्ध बनाना है। तत्त्वज्ञानके सन्दर्भमें जिस प्रवृत्ति-निवृत्तिका वर्णन उपनिषदोंमें मिलता है वह यद्यपि धर्माङ्ग है तथापि तत्त्वज्ञानीका भूषण है, इसलिए उसे तत्त्वज्ञानके अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

शुद्ध तत्त्वज्ञान कर्मका प्रवर्त्तक-निवर्त्तक नहीं होता। वह वस्तुतन्त्र है, कर्तृतन्त्र अथवा करणतन्त्र नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य तथा 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि अनुभव-वाक्य शुद्ध तत्त्वज्ञान हैं, और इनमें वर्णित सिद्धान्तोंकी उपपत्तिके लिए जो

हेतु दृष्टान्त, फल, कथानक, साधन इत्यादि उपनिषदोंमें वर्णित हैं उन सबको तत्त्वज्ञानके ही अन्तर्गत समझना चाहिए।

अब उपनिषद् शब्दका क्या अर्थ है, इसपर विचार करते हैं। **'उप+नि+षद्'=उपनिषद्।** **'उप'** अर्थात् परमात्माके पास; **'नि'** अर्थात् नितान्त; **'षद्'** अर्थात् नाश, गति अथवा अवसादन। इन्हीं तीन अर्थोंमें 'षद्' धातुका प्रयोग होता है :

षद्-ऌ विशरणगत्यवसादनेषु।

इसलिए 'उपनिषद्' शब्दका अर्थ हुआ : वह ज्ञान अथवा विद्या जो परमात्माका अत्यन्त समीपतासे (अभिन्नता) ज्ञान कराये, जो तत्सम्बन्धी अविद्याका नाश करे और साथ ही संसारके बन्धनों को अवसन्न (शिथिल) करे।[1]

उपनिषद् माने ब्रह्मविद्या अथवा गौणवृत्तिसे ब्रह्मविद्यापरक वेदोंकी शब्दराशि भी। यह विद्या आत्मा-परमात्माके कल्पित भेदको मिटाती है, अविद्याका नाश करती है और संसारके बन्धनोंको अवसन्न करती है। यही बात श्री सुरेश्वराचार्यने अपने बृ० वार्तिकमें भी कही है :

उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत्।।5।।

अपने आत्माको परमात्माके बिल्कुल पास पहुँचा करके

---

1. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषद् शब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्याम् उपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषाम् अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणात् हिंसनात् विनाशनात् इति अनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषद् इति उच्यते। ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्...विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति। (कठोपनिषद् शांकर-भाष्य)

सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्ताव-सादनात्।

(बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर-भाष्य)

अज्ञान और अज्ञानके कार्यको नष्ट कर देती है, इसलिए इस विद्याका नाम उपनिषद् है।

उपनिषदें भी दो प्रकारकी पायी जाती हैं : मूल संहितामें आयी हुई उपनिषद् और ब्राह्मण अथवा आरण्यकोंमें आयी हुई उपनिषद्। उदाहरणार्थ प्रस्तुत ईशावास्योपनिषद् मंत्रसंहिताकी उपनिषद् है और अन्य उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकोंकी हैं। यद्यपि दोनों प्रकारकी उपनिषद् ब्रह्मविद्यामें प्रमाण हैं तथापि जो लोग केवल मन्त्रसंहिता भागको ही वेद मानते हैं उनके लिए भी यह ईशावास्योपनिषद् प्रमाण है। यही कारण है कि सभी वैदिक सम्प्रदायोंमें इस उपनिषद्की समान प्रामाणिकता है। इस उपनिषद्के प्रथम मन्त्रका प्रारम्भ **ईशावास्यमिदं सर्वम्** इस वाक्यसे होता है, इसीसे इसका नाम ईशावास्योपनिषद् है। संक्षेपमें इसको **ईशोपनिषद्** भी कहते हैं।

यहाँ यह शंका उठती है कि यदि ईशावास्य उपनिषद् है तो इसके मन्त्रोंका विनियोग तत्त्वज्ञानसे होना चाहिए और यदि यह संहिताका अंश है तो इनका विनियोग कर्ममें होना चाहिए। इसलिए प्रश्न यह है कि ईशावास्योपनिषद्का मुख्य विषय क्या है-तत्त्वज्ञान अथवा कर्मकाण्ड अथवा दोनों? यदि दोनों है तो उसका समन्वय क्या है?

इस प्रश्नका उत्तर जाननेके लिए यहाँ संक्षेपमें इतना जानना ही पर्याप्त है कि ईशोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद संहिताकी-माध्यन्दिनी शाखामें चालीसवाँ अध्याय है। परन्तु किसी भी श्रौतसंहितामें, कल्पसंहितामें तथा श्रौतसूत्रोंमें, कल्पसूत्रोंमें तथा गृह्यसूत्रोंमें इस अध्यायके मन्त्रोंको किसी कर्मकाण्डमें विनियोजित नहीं किया गया है। अतः कर्मादेशके लिए ये मन्त्र नहीं हैं, तत्त्वज्ञानके लिए ही इन मन्त्रोंका उपयोग है। उपनिषदोंके मन्त्रोंका विवेचन करनेपर भी यही बात प्रमाणित होती है। (विशेष विवरणके लिए प्रस्तुत ग्रन्थका

'आमुख' (पृ. सं. 5) तथा 'उपक्रम' (पृ. सं. 24) शीर्षान्तर्गत विश्लेषण पढ़िये)

पूर्णतत्त्वकी झाँकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

यह शान्तिपाठ मूल उपनिषद्की कुंजी है। इस वेदमन्त्रके अर्थको आप पकड़ लें तो 'ईशावास्य' अपना अर्थ आपको खोल देगा। ऐसा नहीं कि आप मूल ही न पढ़ें और केवल शान्तिपाठ ही पढ़ लें। उपनिषद्के मूलार्थमें जिस परिपूर्ण तत्त्वका दिग्दर्शन कराया गया है उसी पूर्णतत्त्वकी ओर यह शान्तिपाठ आपका ध्यान आकर्षित करता है।

वेदमन्त्रके प्रारम्भमें 'ॐ'का उच्चारण मङ्गलका सूचक होता क्योंकि सब मङ्गलोंका मङ्गलस्वरूप परमेश्वर है जिसका वैदिक नाम ॐ है।

पूर्णमदः=वह पूर्ण है। **पूर्णमिदम्**=यह पूर्ण है। यहाँ 'अदः' और 'इदं'में तो भेद प्रतीत होता है परन्तु वेदमन्त्र कहता है कि यह भेद ऊपरी है, केवल प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि दोनों वही एक पूर्णतत्त्व है। पूर्णमें भेद नहीं है, पूर्ण तो पूर्ण ही है। उसमें 'अदः' और 'इदम्' दोनों प्रत्ययमात्र हैं और अध्यारोपित हैं। अदःवाच्य पूर्णतत्त्वकी परोक्षता केवल उसके अज्ञानसे ही सिद्ध है, अन्यथा नहीं, क्योंकि पूर्ण पदार्थ कभी परोक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रकार इदंवाच्य जगत्की प्रत्यक्ष परिच्छिन्नता, अनित्यता, अनेकता एवं अन्यता भी इसके वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे ही सिद्ध है, अन्यथा नहीं, क्योंकि पूर्ण पदार्थ कभी भी परिच्छिन्न, अनित्य, अनेक एवं अन्य नहीं होता।

पूर्णमदः=वह जगत्कारणका परमेश्वर पूर्ण है। **पूर्णमिदम्**=

यह कार्य जगत् पूर्ण है, क्योंकि पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते=पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है। इस प्रकार यहाँ यह बताना अभीष्ट है कि पूर्ण पदार्थमें कार्य-कारण भावसे उपलक्षित भेद भी मिथ्या ही है। पहिले होनेसे (कारण होने) या पीछे होनेसे (कार्य होनेसे) वस्तुतत्त्वकी पूर्णतापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कार्य होना, कारण होना, यह सब आता-जाता रहता है और पूर्णता तो स्वाभाविक रहती है।

ऐसी पूर्णताका निरूपण मजहबी किताबोंमें नहीं होता। वहाँ तो एक सवाब होगा तो एक कुफ्र होगा, एक पुण्य होगा तो एक पाप होगा, एक बहिश्त होगा तो एक दोजख होगा। एक स्वर्ग होगा तो एक नरक होगा। यह स्वर्ग-नरकका वर्णन दूसरी चीज है और दोनोंमें जो एक तत्त्व है उसका वर्णन दूसरी चीज है। वह (पूर्ण तत्त्व) न धर्मका फल है, न अधर्मका फल है। श्रुति कहती है कि वह पूर्णतत्त्व धर्मसे परे है; अधर्मसे परे है, कृतसे परे है, अकृतसे परे है, वह विदितसे परे है और अविदितसे भी परे है।

विदितादथो अविदितादधि।

'पूर्ण' एक शब्द है जो मुखमें है। 'पूर्ण' शब्दका अर्थ बुद्धिमें है। परन्तु उक्त अर्थवाली पूर्णवस्तु क्या है? इसपर विचार करना है।

संसारमें जितनी वस्तुएँ अनुभवमें आती हैं वे सब अपूर्ण होती हैं-वे देशमें अपूर्ण होती हैं क्योंकि सर्वदेशमें उनकी उपलब्धि नहीं होती। वे कालमें अपूर्ण होती हैं क्योंकि सर्वकालमें उनकी उपलब्धि नहीं होती। वे वस्तुमें अपूर्ण होती हैं क्योंकि अन्य वस्तुओंसे उनका पार्थक्य होता है। वे कभी एकरस नहीं होतीं क्योंकि वे क्षयी होती हैं। उनके प्राप्त होनेपर तात्कालिक अभावकी पूर्ति भले ही हो परन्तु क्रिया, ज्ञान और भोगकी वासना नष्ट नहीं होती, अपितु बढ़ती है जिससे कर्ता, ज्ञाता और भोक्तामें परिच्छिन्नता, दीनता और हीनताकी ग्रन्थियाँ और अधिक दृढ़ होती हैं। इसलिए मनुष्य एक ऐसी

वस्तुकी कल्पना करनेके लिए मजबूर होता है जो सर्वदेशमें हो, सर्वकालमें हो, सर्ववस्तुओंमें हो, एकरस हो, नित्य हो, जो क्रिया, कारक और फलकी हीन त्रिपुटीसे ग्रस्त न हो, जो स्वयंमें कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य, प्राप्त-प्राप्तव्य हो। कहना न होगा कि पूर्णताका यह प्रत्यय हमारे अपूर्णताके अनुभवपर आधारित है और पूर्णता-अपूर्णताके इन दोनों विरोधी प्रत्ययोंका सामानाधिकरण्य हमारी बुद्धिमें ही है। परन्तु क्या ऐसी कल्पित पूर्ण वस्तुका कोई वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है अथवा वह एक बुद्धिका आकार मात्र ही है?

उपनिषदोंका कहना है कि उस पूर्णवस्तुका नाम 'ब्रह्म' है; और वही सबका अस्तित्व है। अहं-प्रत्ययका सार वही है अर्थात् अपूर्ण और पूर्णकी कल्पनाके आकारमें परिणत बुद्धिवृत्तिका आश्रय वही ब्रह्म है। और वस्तुनिष्ठरूपसे प्रतीयमान देशकालवस्तुका आधार भी वही ब्रह्म है। ब्रह्म वह पूर्ण वस्तु है जो 'अहं', 'इदम्' और इनकी अपेक्षासे कल्पित (इनके वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे परोक्षतया कल्पित) 'अदः' (अर्थात् मैं, यह और 'वह') का अधिष्ठान एवं प्रकाशक है। वस्तुनिष्ठ होना (इदं रूपसे इन्द्रियज्ञानका विषय) और आत्मरूप होना, ये दोनों उसी एक पूर्ण ब्रह्मके दो पक्ष हैं।

यदि कहो कि पूर्णवस्तु है ही नहीं, कोरी कल्पना है, तो उपनिषद् कहती है कि : नहीं, यह कोरी कल्पना नहीं है क्योंकि कल्पक स्वयं सच्चा है; कल्पकका विशुद्ध परमार्थस्वरूप जो चिन्मात्र है, वह सर्व अपूर्णताओंसे विनिर्मुक्त पूर्ण ब्रह्म है।

यदि कहो कि पूर्णवस्तुकी वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं है, तो उपनिषद् कहती है कि : नहीं, जो कुछ वस्तुनिष्ठ जगत् तुमको प्रतीत होता है उसकी अलग-अलग सत्ताओंमें ओतप्रोत एक सत्ताको पहिचानो, उसकी अलग-अलग भासमानताओंमें ओतप्रोत एक भासमानताको पहिचानो, उसकी अलग-अलग प्रतीत होनेवाली

प्रियताओं, अनुकूलताओं, उपयोगिताओंमें ओतप्रोत जो एक प्रियता है उसको पहिचानो, उसके अनेकत्वमें ओतप्रोत जो एकता है उसको पहिचानो। उस पहिचानी हुई वस्तुनिष्ठ एक सत्ता, एक भासमानता, एक प्रियता और स्वयं एकताकी एकता वह वस्तुनिष्ठ 'सत्य' है जिसमें आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठताका भेद मिथ्या है क्योंकि वह सच्चिदानन्दाद्वय सत्य चिन्मात्र ही उपलब्ध होता है। यह सत्य अनुभवकी अपूर्णताओंसे मुक्त होनेके कारण ही पूर्ण कहलाता है, अपूर्णका प्रतिद्वन्द्वी होनेमें नहीं। पूर्णता और अपूर्णताके सभी प्रत्यय इसी पूर्ण वस्तुमें समा जाते हैं। सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान होनेके कारण इसको 'ब्रह्म' कहते हैं और इनका प्रकाशक होनेके कारण इसको आत्मा बोलते हैं।

असलमें प्रत्येक वस्तु ब्रह्म (पूर्ण) है क्योंकि वह ब्रह्मकी वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति है। वस्तुका नाम और रूप (काल्पनिक) सतही भेद उत्पन्न करता है, वास्तविक नहीं।

तो पूर्णताके प्रत्ययसे उपलक्षित जो परोक्षतया कल्पित तत्त्व है वह भी ब्रह्म है और पूर्णताके अनुभवसे उपलक्षित जो अस्ति-भाँति-प्रिय-रूप जगत् है वह भी परमार्थतः वही पूर्ण ब्रह्म है। इसमें हेतु यह है कि पूर्ण वस्तुमें जो कुछ उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ दीखता है वह भी पूर्णतासे पृथक् नहीं होता :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अपूर्ण वस्तुओंके 'कुल'का नाम पूर्ण नहीं है और पूर्ण वस्तुके अंशका नाम अपूर्ण नहीं है। यहाँ तो पूर्ण ही पूर्ण है। अज्ञात होने पर अपूर्ण अनुभव होता है, पराया अनुभव होता है; और वही ज्ञात होनेपर पूर्णका अनुभव होता है।

पूर्णके पूर्णत्वका ज्ञान होनेपर पूर्ण ही पूर्ण शेष रहता है-वह

भी पूर्ण, यह भी पूर्ण, अहम् भी पूर्ण, त्वम् भी पूर्ण; कारण भी पूर्ण; अंश भी पूर्ण। तब भाव, तृष्णा शोक-मोह राग-द्वेष, इन सबके लिए स्थान कहाँ?

इसीलिए उपनिषद्ने कहा कि पूर्णके पूर्णत्वको जानकर (**पूर्णस्य पूर्णम् आदाय**) केवल पूर्णता ही शेष रहती है। **पूर्णम् एव अवशिष्यते।**

शान्तिपाठके इस दूसरे चरणका अर्थ यों भी करते हैं कि कारणब्रह्मकी पूर्णतासे कार्यब्रह्मकी पूर्णताको निकाल लेनेपर भी कारणब्रह्मकी पूर्णता अक्षुण्ण बनी रहती है। अथवा अनन्तमें-से अनन्त निकाल लेनेपर अनन्त ही बच रहता है। इसका अर्थ ही है कि निकालनेकी कोई क्रिया वास्तवमें नहीं होती, क्योंकि अनन्त दो नहीं हो सकते। बस; एक अनन्तमें दूसरे अनन्तके प्रकटीकरणका भ्रम होता है, अनन्तके स्वरूपको न जाननेके कारण। भ्रमरूप अनन्त मिथ्या है और मिथ्या अनन्तका अधिष्ठान जो अनन्त है वही सच्चा है। जहाँ अज्ञानसे ही अनन्त वस्तु अन्यरूप अनन्त भासती है वहाँ भासमान अनन्तका अधिष्ठान चेतन ही होता है अर्थात् वह सत्य अनन्त वस्तु ज्ञान-स्वरूप ही होती है। इसीलिए श्रुतिने कहा :

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है'।

इस पूर्णताके ज्ञानसे जीवनमें जो भी दुःख है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक, उन सबकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसीको बतानेके लिए शान्तिपाठके अन्तमें '**ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**' ऐसा तीन बार 'शान्ति' बोलनेका विधान है।

हम शान्तचित्त होकर उस पूर्णतत्त्व ब्रह्मके प्रति अभिमुख हों, यही शान्तिपाठका उद्देश्य है। ●

उपक्रम

ईशावास्योपनिषद् दो रूपोंमें पायी जाती है : एक तो यह यजुर्वेदकी 'काण्व' शाखामें है, और दूसरी 'माध्यन्दिनी' शाखाका अन्तिम चालीसवाँ अध्याय है। दोनों रूपोंके मन्त्रोंमें नाममात्रका पाठ-भेद है।

शुक्ल यजुर्वेदकी मन्त्रसंहितामें होनेसे इस उपनिषद्का महत्त्व अन्य सभी उपनिषदोंसे अधिक है, क्योंकि दूसरी सब उपनिषद् ब्राह्मण-आरण्यककी हैं। आर्यसमाजके विद्वान् ब्राह्मण-आरण्यकको वेद नहीं मानते, किन्तु वे भी इस उपनिषद्को मन्त्र-संहितामें होनेसे वेद मानते हैं।

वेदकी मन्त्रसंहितामें जितने मन्त्र हैं, उनके ऋषि, देवता, छन्द होते हैं और कल्पसूत्रोंमें उनके किसी-न-किसी कर्ममें विनियोगका विधान होता है, जैसे गायत्री-मन्त्रका जपमें विनियोग होता है। इसीप्रकार इस उपनिषद्के मन्त्रोंके भी ऋषि, देवता तथा छन्द हैं, परन्तु इसके मन्त्रोंका किसी कर्ममें विनियोग करनेका विधान नहीं है। ऐसा क्यों है? इसका उत्तर अपने भाष्यमें भगवान् श्रीशंकराचार्यने इस प्रकार दिया है-

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः। तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्व-सर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

(ईशावास्योपनिषद् शांकर-भाष्य, सम्बन्धभाष्य)

अर्थात् 'ईशा वास्यम्' आदि मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग नहीं है; क्योंकि वे आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले हैं जो कि कर्मका शेष नहीं है। आत्माका यथार्थ स्वरूप शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व आदि है जो आगे कहा जायेगा। इसका कर्मसे विरोध है, अतः इन मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग न होना युक्त ही है।

कल्पसूत्रोंमें यह विधि भी है कि जिस मन्त्रके विनियोगका निर्देश न हो, उस मन्त्रकी प्रकृतिके अनुसार उसका विनियोग कर लेना चाहिए। यदि इस नियमके अनुसार इस उपनिषद्के मन्त्रोंका विनियोग निश्चय करना चाहें, तो भी किसी कर्ममें इसके मन्त्रोंका विनियोग सम्भव नहीं है; क्योंकि किसी कर्ता, भोक्ता तथा संसारी आत्माका निरूपण इस उपनिषद्का मन्तव्य होता तब तो उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्वके कारण उसके मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग सम्भव हो सकता था, परन्तु इस उपनिषद्के आठवें मन्त्रमें तो सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अपापविद्ध, सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ स्वयम्भू आदि रूपमें प्रतिपादन है किसी कामना, कर्म, अथवा जातिवाले आत्माका प्रतिपादन इस उपनिषद्में नहीं है। कर्मके कर्ताके रूपमें आत्माका प्रतिपादन नहीं किया गया है।

उपनिषद्को कर्मका प्रतिपादक क्यों न माना जाय? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि कर्म उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य अथवा आप्य होता है। उत्पाद्य-अर्थात् कर्मके द्वारा कुछ उत्पन्न किया जाता है। जैसे मिट्टीसे घड़े अथवा खिलौनेकी आकृति उत्पन्न करते हैं; यह उत्पाद्य कर्म हुआ। **संस्कार्य**-किसी वस्तुको धोकर, रगड़कर या अग्निमें तपाकर या उसको रंगकर सजाना-सँवारना, यह संस्कार्य कर्म है। **विकार्य**-दूधसे दही बनाना या चावल पकाकर भात बनाना

विकार्य कर्म है। आप्य-जो वस्तु अन्य देशमें हैं उसे वहाँ जाकर पाना आप्य कर्म है।

उपनिषद्में जिस आत्माका वर्णन है वह इनमें-से कुछ भी नहीं है। आत्मा न स्वयं उत्पन्न होता है न किसीको उत्पन्न करता है। अनन्त ज्ञानस्वरूपमें कर्मके संस्कारका जन्य-जनकत्व भाव नहीं है। संस्कार कर्मसे उत्पन्न होते हैं और कर्म संस्कारजन्य होते हैं; किन्तु अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा न स्वयं विकृत होता है और न किसीके विकारका हेतु है। इसी प्रकार वह आप्य भी नहीं है, क्योंकि जो वस्तु अन्य देशमें, अन्यकालमें तथा अपनेसे भिन्न हो, वही पायी जाने योग्य होती है। अपना स्वरूपभूत आत्मा तो नित्यप्राप्त है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रतिपादक होनेसे उपनिषद्को कर्मका प्रतिपादक नहीं माना जा सकता।[1] यदि कहो कि ज्ञानस्वरूप आत्माकी प्राप्तिमें कर्म सहायक होगा, इसलिए उपनिषद्को कर्मका प्रतिपादक माना जाय, तो यह तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें ज्ञान और कर्मके स्वरूपका अज्ञान छिपा हुआ है। हमारे पास दो प्रकारकी इन्द्रियाँ हैं, कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय। लौकिक व्यवहारके क्षेत्रमें ये दोनों परस्पर सहायक हैं, ज्ञान कर्ममें सहायक हैं और कर्म ज्ञानमें। जैसे नेत्रेन्द्रियसे जान लिया कि यह गुलाबका सुन्दर पुष्प है, घ्राणेन्द्रियसे जान लिया कि इसकी सुगन्ध मोहक है, त्वगेन्द्रियसे जान लिया कि उसकी पंखुड़ियाँ बहुत कोमल है, तो फिर हाथने उसको उठा लिया। यह ज्ञानकी कर्ममें सहायक हुई। इसी प्रकार यदि दूरस्थ किसी वस्तुको जानना है तो पाँवसे वहाँ चलकर गये, हाथसे वस्तुको उलटा-पुलटा उठाकर पास लाये और तदुपरान्त ज्ञानेन्द्रियोंसे

---

1. न ह्येवैलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्। (ईशावास्योपनिषद् शांकरभाष्य)

वस्तुको जान लिया। यह कर्मकी ज्ञानसे सहायता हुई। इस प्रकार ऐन्द्रियक व्यवहारमें ज्ञान तथा कर्म सहयोगी हैं अर्थात् यहाँ ज्ञान कर्मका प्रवर्तक अथवा निवर्तक होता है तथा स्वयं कर्म भी ज्ञानमें सहायक होता है। परन्तु आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है वह ऐसा नहीं है।

प्रथम तो जगत्‌का जो मूल तत्त्व 'ज्ञान' या ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह इन्द्रिय-ज्ञानका विषय ही नहीं है। सच्ची स्थिति यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने विषयका भी पूर्ण ज्ञान करानेमें असमर्थ है। श्रवणेन्द्रिय अत्यन्त मन्द तथा अत्यन्त तीव्र ध्वनियोंको नहीं सुन पाती। नेत्रेन्द्रिय भी अत्यधिक दीर्घ तथा अत्यन्त लघु तरंग-दैर्घ्यवाले प्रकाशको देखनेमें असमर्थ है। योगके द्वारा इन्द्रियोंके मलका नाश होनेपर तथा उनकी शक्ति-वर्धन होनेपर नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियोंसे दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि होता ही है। भौतिक जगत्‌में भी उपकरणोंकी सहायतासे इन्द्रियोंकी सीमाका विकास होता है, परन्तु उसकी भी सीमा ही है। ऐसी अवस्थामें जो जगत्‌का मूलतत्त्व है जिसके विषयमें कहा गया है-**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, जन्माद्यस्य यतः** उसे इन्द्रियोंके द्वारा कैसे जाना जा सकता है?

आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान न इन्द्रियजन्य ज्ञानका प्रवर्तक है, न निवर्तक। वह ऐन्द्रियक ज्ञानका जन्य या जनक नहीं है। उसमें ऐन्द्रियक ज्ञानका कोई सहयोग नहीं पाया जा सकता।

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥

लौकिक ज्ञान जितना है, सब संस्काररूपसे ही जाना जाता है। जितनी भी कृति है उसमें आकृति, विकृति, संस्कृति और प्रकृति-ये चार बातें होती हैं। परन्तु परिपूर्ण धातुका ज्ञान तो आकृति-विज्ञान

नहीं है; वह विकृति, संस्कृति या प्रकृतिका भी ज्ञान नहीं है। अतः किसी कर्मसे या संस्कारसे उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। अतएव आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिए सहायकरूपमें उपनिषद्का कर्ममें विनियोग हो, यह भी नहीं माना जा सकता।

व्यक्ति जाति या समाजके काम आता है, अतः उसके लिए कर्मविनियोग आवश्यक होता है। किन्तु परिपूर्ण तत्त्व तो काममें आनेवाली वस्तु नहीं है। इसलिए भी कर्ममें उसके विनियोगकी बात असंगत है।

'उपनिषद्' शब्दका अर्थ भी (शान्तिपाठमें) हम देख चुके हैं। 'षद्'का अर्थ नाश, गति और अवसादन है। उसमें 'उप' और 'नि' उपसर्ग जुड़ जानेसे 'उपनिषद्' शब्दका अर्थ वह विद्या है जो परमात्माका अत्यन्त समीपसे तथा परिपूर्णरूपसे ज्ञान कराती है, जो ब्रह्मसम्बन्धी अविद्याका उच्छेदक है और जो कर्म–बन्धनको अवसन्न कर देती है।

इस प्रकार 'ईशावास्योपनिषद्के मन्त्र आत्माके यथार्थ–स्वरूपका प्रकाश करते हैं और आत्मसम्बन्धी अज्ञानको निवृत्त करते हुए संसारके शोक–मोहादि धर्मोंके विच्छेदक आत्मैकत्वादि विज्ञानको उत्पन्न करते हैं।[1] इन मन्त्रोंका कर्मकाण्डमें विनियोग नहीं है।

इस उपनिषद्का प्रारम्भ 'ईशा वास्यम्', इस वाक्यसे होनेके कारण इसका नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। आइये! अब ईशावास्योपनिषद्का विचार प्रारम्भ करें!

●

---

1. तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादि–विज्ञानमुत्पादयन्ति। (ईशावास्योपनिषद् शाङ्करभाष्य)

प्रथम मन्त्र

ॐ ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।1।।

ॐ=परमेश्वरका नाम लेकर उपनिषद्का आरम्भ करते हैं।

जगत्याम्=इस जगतीमें; **इदम्**=इदं-वाच्य; **यत्किञ्च**=जो कुछ भी; **जगत्** =नामरूपात्मक स्थिर-जंगम पदार्थ है; **सर्वम्**=वे सब; **ईशा**=ईश्वरके द्वारा; **वास्यम्**=आच्छादनीय हैं। अर्थात् उन-उन पदार्थोंको न देखकर उनमें जो स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान चेतन है, वही ज्ञानका विषय बनने योग्य है। अतः **तेन त्यक्तेन**=उस नामरूपात्मक प्रपञ्चका त्याग करके; **भुञ्जीथा**=अपने वास्तविक स्वरूपका-आत्माका पालन करो; **मा गृधः**=गीधके समान लोलुप मत बनो, **धनम् कस्यस्वित्**=यह धन किसीका नहीं है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, इस उपनिषद्का नामकरण इसके प्रथम मन्त्रके प्रथम वाक्य 'ईशा वास्यम्'के आधारपर किया गया है। विषय-वस्तुकी दृष्टिसे भी ईशावास्योपनिषद्को अकेले इसी मन्त्रकी व्याख्या कहा जा सकता है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' वेदान्तका और उपासकोंका मूर्धन्य सिद्धान्त है। और गीतोक्त कर्मयोग, समत्वयोग, निष्काम कर्मयोग और ईश्वरार्पणयोग भी इसी 'ईशा वास्यम्'के सिद्धान्तपर आधारित हैं, ऐसा कथन भी अत्युक्ति नहीं है। इसलिए इस मन्त्रको अच्छी प्रकारसे हृदयङ्गम करना आवश्यक है।

अद्वैत-सिद्धान्तकी दृष्टिसे अर्थ :

पहले मन्त्रमें आये हुए शब्दोंपर विचार करते हैं।

जगत्याम् अर्थात् प्रकृतिमें, 'सत्त्वासत्त्वाभ्यां

अनिर्वचनीयत्वं' वाली मायामें[1] (अर्थात् 'सत्' या 'असत्' कहकर जिसका निरूपण न हो सके, उस मायामें) अथवा विषयप्रकाशिका संवित्में[2], **इदंत्वेन** अर्थात् यहके रूपमें **यत्किञ्च** अर्थात् जो कुछ भी–जैसा भी; **जगत् सर्वम्** अर्थात् उपलभ्यमान निखिल वस्तुजात है, वह सब; **ईशा वास्यम्** ईश्वरसे, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अधिष्ठान चेतनसे आच्छादनीय है, ढके जाने योग्य है।

जगत्को ईश्वरसे ढक दो, यह उसी प्रकार कहा जा रहा है जैसे यह कहा जाय कि 'घड़ेको मिट्टीसे ढक दो, हथियारको लोहेसे ढक दो, आभूषणको सोनेसे ढक दो।' घड़ा तो मिट्टी है ही, हथियार लोहा है ही, आभूषण सोना है ही। बस इसका जाननामात्र ही ढकना है : **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।** इसका तात्पर्य है कि जगत्में जो कुछ भी नामरूपात्मक चराचर पदार्थ हैं वे सब परमार्थतः अपने अधिष्ठान स्वयंप्रकाश चेतनसे अभिन्न हैं, बस ऐसा जान लो। यही जगत्को ईश्वरसे ढक देना है।

शान्तिपाठमें जिस पूर्णतत्त्व ब्रह्मका संकेत दिया गया था वही सर्वाधिष्ठान स्वयं-प्रकाश चेतन यहाँ ईशा पदका लक्ष्यार्थ है।

उपाध्यसंस्पृष्टत्वं ईश्वरत्वम्

उपाधियोंसे असंस्पृष्ट रहना ही ईश्वरत्व है। इस दृष्टिसे 'ईशा' पदका लक्ष्यार्थ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है।

ईष्ट इतीट् तेन ईशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमिष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेनरूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्।

(शांकरभाष्य–ईशावास्योपनिषद्)

'जो ईशन अर्थात् शासन करे उसको 'ईट्' कहते हैं : उसका

---

1. तत्पदार्थकी दृष्टिसे। 2. त्वंपदार्थकी दृष्टिसे।

तृतीयान्तरूप 'ईशा' बनता है जिसका अर्थ हुआ-ईश्वरके द्वारा। सबका शासन करनेवाला परमेश्वर परमात्मा है। वही सब जीवोंका आत्मा होकर अन्तर्यामीरूपसे सबका शासन करता है। उस अपने स्वरूप आत्मा ईशसे यह सब चराचर जगत् आच्छादनीय है।' अर्थात् उनके अन्तर्यामीरूपसे यह सब कुछ मैं ही हूँ, इस भावसे जगत्का ग्रहण करना चाहिए।

सीधा अर्थ यह है कि आत्माभिन्न महाचैतन्यमें भासमान सर्व उपाधियोंको, उपाधिरूप प्रपञ्चको, बाधित कर दो; नामरूपमें वृत्तियोंको मत ले जाओ। उन उपाधियोंके प्रकाशक=तुम स्वयं और उनके अधिष्ठान चेतनकी नित्यसिद्ध एकताके बोधसे उन उपाधियोंके मिथ्यात्वका अनुभव करो, फिर चाहे उस प्रपञ्चका, उपाधिका जो भी और जैसा भी रूप हो; **यत्किञ्च**। अन्तःकरणकी उपाधि जुड़नेसे चाहे जो और चाहे जैसा प्रपञ्च **जगत्यां जगत्** प्रतीयमान हो, उसे प्रत्यकचैतन्याभिन्न ब्रह्मके ज्ञानसे बाधित कर दो।

जो चराचर जगत्की आत्मा ईश्वर है वही मेरी भी आत्मा है, अर्थात् वही परमार्थतः मैं हूँ; और जो कूटस्थ आत्म-चैतन्यमें हूँ वही जगत्का अधिष्ठान ईश्वर है-इस ज्ञानको ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मका ज्ञान कहते हैं। यही बोध **ईशा वास्यमिदं सर्वम्**का लक्ष्यार्थ है। और यही प्रथम वेदार्थ है, प्रथम उपदेश है, प्रथम आदेश है।

अब इस आत्मज्ञानके उपलब्ध हो जानेपर ज्ञानीका जीवन कैसा हो, इसका विवेचन करती हुई श्रुतिका कथन है कि : **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः तेन हेतुना त्यक्तेन त्यागेन भुञ्जीथा आत्मानं पालयेथाः**। अर्थात् क्योंकि सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च परमार्थतः ईश्वर ही है, हमारी आत्मा ही है, तब तो नामरूप और कर्ममय सारा जगत् ही परित्यक्त हो गया। ऐसे आत्मज्ञानीके लिए लौकिक कर्मकी

जो साधारणजनोंकी प्रेरणाएँ हैं-पुत्रप्राप्ति, धनप्राप्ति और यशप्राप्ति, वे कोई स्थान नहीं रखतीं। इसी हेतुसे श्रुतिका कहना है कि वह आत्मज्ञानी उस जगत् और उसकी एषणाओंको त्यागकर अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है।

यहाँ **भुञ्जीथाः**का अर्थ 'भोग करो', ऐसा नहीं है, वरन् 'पालन करो' इस अर्थमें है।

अपनी ब्राह्मीस्थिति-जीवन्मुक्तिकी रक्षाके लिए जगत्के तादात्म्यका त्याग आवश्यक है। ज्ञान-परम्परा बनी रहे, तप स्थिर रहे, संशय न उठे, जीवन्मुक्तिका सुख स्थिर रहे, परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिका प्रमाद न हो, इसके लिए प्रतीयमान जगत्के तादात्म्यका त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार त्यागपूर्वक जीवनका पालन करो, यह दूसरा वेदार्थ है।

अब तीसरा उपदेश करता है वेद : **मा गृधः** अर्थात् धनका लोभ मत करो, धन-लोलुप मत बनो; धनके प्रति गीध-दृष्टि मत अपनाओ। ऐसा क्यों? तो कहा-**कस्यस्विद्धनम्**। अर्थात् **धनं कस्यस्विद्?** भला धन किसका है? अर्थात् धन तो किसीका नहीं **न कस्यचिद्धनमस्ति**। जब सब कुछ ईश्वरसे अभिन्न है तो उसमें धनका स्वामी तो कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। सम्पूर्ण धनका स्वामी यदि कोई हो सकता है तो वह ईश्वर ही हो सकता है, कोई व्यक्ति नहीं। और असलमें तो जिस ईश्वरका यह सम्पूर्ण जगत् कहा जाता है, प्रलयकालमें उसका भी कहाँ रह जाता है? अतः यह धन किसीका नहीं है, इस धनके लिए लोभ मत करो।

अथवा **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्=कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनम् मा गृधः** अर्थात् किसीके भी, पराये या अपने धनका

लोभ मत करो। जिस धनपर किसीका अधिकार हो, रहा हो या होनेवाला हो, उस धनका लोभ मत करो, चाहे वह धन पुत्रका हो, पिताका हो, पत्नीका हो।

इस प्रकार इस मन्त्रमें तीन वेदार्थ हैं :

1. सम्पूर्ण चराचर जगत् ईश्वरसे आच्छादनीय है क्योंकि वह ईश्वर ही है, ईश्वरसे अभिन्न है। अतः 2. एषणाओंके त्यागपूर्वक अपना पालन करना चाहिए; तथा 3. न तो किसी औरके धनका लालच करना चाहिए और न अपने ही धनका लालच करना चाहिए क्योंकि वस्तुतः धन किसीका है ही नहीं, न अपना और न पराया।

यदि कोई शंका करे कि फिर तो श्रुतिको 'कर्म न करना' रूप उपदेश ही इष्ट है तो ईशोपनिषद्का दूसरा मन्त्र इसका खण्डन करता है जहाँ कहा गया है कि :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो।' इन चारों आदेशोंके समन्वयकी चर्चा आगे करेंगे।

वैष्णवाचार्योंकी दृष्टिसे अर्थ :

जगत्याम्=जगतीतलपर अथवा अचिन्त्य अनन्त कारणरूपा महाशक्ति मायामें; **इदं सर्वं जगत्**=यह दृश्यमान अनन्तकोटि ब्रह्माण्डराशिमें; **यत्किञ्च**=जो कुछ भी आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त, चींटीसे ब्रह्मातक, तृणसे प्रकृतितक है, उस सबको **ईशा वास्यम्** =ईश्वरकी भावनासे भर दो, अर्थात् अखिल कल्याणगुणैकतान, निखिलहेय-प्रत्यनीक, अनन्तकरुणावरुणालय अपने आराध्यसे परिपूर्ण कर दो। (यहाँ ईशा पद है। अतः राम, कृष्ण, नारायण, शिव, शक्ति आदि जो भी आराध्यका स्वरूप तुम्हारी भावनाके अनुरूप हो, उसी रूपको सर्वत्र सबमें व्यापक देखो। *'सीयराममय सब जग जानी'* अथवा

'वासुदेवः सर्वम्', इस प्रकार सर्वत्र–सबमें अपने आराध्यको और आराध्यमें सबको देखो।

तेन=उस आराध्य प्रभुके **त्यक्तेन**=दत्तेन, दिये हुएका; **भुञ्जीथाः**=उपभोग करो। अर्थात् भगवान्‌ने जो कुछ दिया है, उसी परिस्थिति तथा पदार्थका सन्तुष्ट रहकर प्रसाद-बुद्धिसे उपभोग करो। वह भगवान् 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'की प्रतिज्ञा करनेवाला है। उसने जो दिया है उसमें ही चित्तको सन्तुष्ट रखो।

कस्य (प्रजापतेः) ईश्वरस्य **धनम्**=धन तो ईश्वरका है, उसे अपना मत समझो। अथवा **कस्य**=सुखस्वरूपपरमात्मनः **धनम्**= धन आनन्दस्वरूप परमात्माका है, उसमें ममता मत जोड़ो।, **मा गृधः**=लालच मत करो।

दोनों अर्थोंकी तुलना :

ऊपर; अद्वैत–वेदान्त और वैष्णवमतके आधारपर जो 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' नामक मन्त्रके अर्थ किये गये, उनसे जो स्पष्ट दृष्टिकोण जीवनके प्रति प्राप्त होते हैं वे ये हैं :-

सब कुछ ईश्वरसे आच्छादनीय है, यह दृष्टि उसीको प्राप्त होती है जो अपनी समस्त एषणाओंको त्यागकर केवल जीवन-निर्वाह करता है। और जिसको यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है वह सम्पूर्ण एषणाओंका ही त्याग नहीं करता बल्कि उसके जीवनमें समस्त लौकिक–वैदिक कर्मोंकी इतिश्री हो जाती है। यह अद्वैतपरक अर्थका सहज परिणाम है। संभवतः इसीलिए भगवान् श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस प्रथम मन्त्रको संन्यासी परमार्थ-दर्शी पुरुषके लिए बताया है;[1] तथा दूसरे मन्त्र **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः** (कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी

---

1. *एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतयात्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः।*

इच्छा करे)के साथ इसका विरोध न हो इसलिए उस दूसरे मन्त्रको संन्यासी आत्मविद्से भिन्न संसारी अनात्मज्ञके लिए बताया है।[1]

एक बात और जो साधारण पाठकको अद्वैतपरक अर्थ पढ़नेसे प्रतीत होती है, वह यह है कि संसारके सब पदार्थ झूठे हैं, अस्तित्वहीन और अव्यवहार्य हैं।

इसके विपरीत वैष्णवमतके अर्थको पढ़कर जो प्रतिक्रिया होती है वह यह है कि संसार सच भी है परन्तु उसके प्रति सम्पूर्ण व्यवहार एक परोक्षसत्ता (ईश्वर)की पराधीनतासे ही करना है, अपना स्वातन्त्र्य कर्म या भोग किसीमें नहीं है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण भ्रामक हैं और सिद्धान्तोंको न समझनेके कारण हैं। मूल प्रश्न यह है कि जगत् जो जैसा दीखता है, अनुभव होता है, क्या वह वैसा ही है? दीखता है नाम और रूप, परन्तु द्रव्यमें नाम और रूपका मिथ्यात्व लोक-प्रसिद्ध ही है। और द्रव्य भी क्या है? पाँचों इन्द्रियोंके विषयों-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके ज्ञानोंका एक पुञ्जमात्र ही न? मन और इन्द्रियोंसे व्यतिरिक्त द्रव्यका कोई अस्तित्व नहीं है। और मन, इन्द्रियाँ स्वयं चेतनात्माके आभास हैं। इस प्रकार, सम्पूर्ण देश, काल और द्रव्य चेतनात्माके आभास हैं। वह चेतन प्रत्येकका 'मैं' होनेसे 'आत्मा' कहलाता है और सम्पूर्ण देश, काल और द्रव्यका सार होनेसे 'ईश्वर' कहलाता है न 'मैं' किसीके अधीन है और न ईश्वर किसीको पराधीन रखता है। ईश्वर तो सबकी आत्मा है ही। उसको वैसा ही देखना यथार्थ देखना है। उस यथार्थके प्रति मनुष्यका ध्यान आकृष्ट करना ही वेदज्ञानका लक्ष्य है।

आप संसारमें क्या देखते हैं? आपकी निगाह, आपकी बुद्धि,

---

1. अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय असक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः।

पदार्थका किस स्तरतक भेदन करती है? द्रव्यरूप वस्तु, उसकी वस्तुनिष्ठता, उसका रूप, उसका नाम, उसका इन्द्रियगम्य होना, उसके गुण अौ सकी उपयोगिता, एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे भेद, द्रव्यका सतत परिणाम, द्रव्यका देशस्थ होना, देश और काल, आपेसे अतिरिक्त जो भी जागतिक वस्तुएँ हैं उनके अनुभवकी सीमा बस यही है। इनमें कुछ केवल मानसिक या बौद्धिक परिकल्पनाएँ हैं जैसे 'काल', कुछ केवल ऐन्द्रियक प्रतीतियाँ हैं जैसे 'देश' और अन्य सब प्रतीतियाँ इन्द्रिय और बुद्धि ज्ञानोंका सम्मिश्रण है तथा स्मृतिज्ञानपर आधारित है जैसे द्रव्यका सतत परिणामी प्रतीत होना। कहना न होगा कि सर्वसाधारणकी बुद्धि इन प्रतीतियोंके जालका अतिक्रमण करनेमें असमर्थ है।

दूसरी ओर अपने आपकी अनुभूतिकी सीमा भी क्या है? शरीर शरीरका मोटा-पतला होना, सुन्दर या काना-कूबड़ा आदि इन्द्रियहीन होना, पुरुष, स्त्री या नपुंसक होना, भूखा-प्यासा होना, रोगी, विकारी या सदाचारी-धर्मात्मा होना, कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी होना अथवा आने-जानेवाला देह-परिच्छिन्न जीव होना शान्त, विक्षिप्त होना, भक्त या मुक्त होना-अर्थात् देह या देहजन्य संस्कारों-विकारों अथवा देह-सम्बन्धित पदार्थोंसे तादात्म्यापन्न मैं-बस यहींतक साधारणतः अपने आपके अनुभवकी सीमा है।

वेद आपके अनुभवकी सीमाओंको तोड़ता है परन्तु वह नयी सीमाएँ नहीं बनाता। वह आपसे कहता है कि समूची देश काल-वस्तुकी कार्यकारणात्मक समष्टिके मूलमें बुद्धिको प्रविष्ट करो, उसे बाहर ही मत अटकने दो; वह मूल ईश्वर है, उस समष्टिका स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान और वह चेतन होनेसे 'तुम'से अभिन्न है। 'तुम' अर्थात् तुम्हारा असली स्वरूप, तुम्हारी 'आत्मा' जो तुम्हारे सभी

ऐन्द्रियक एवं बौद्धिक प्रत्ययोंका साक्षी है, शुद्ध चिन्मात्र। वेद कहता है तुम अपनी दृष्टिको इसी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके आकारमें ढाल दो। अभी तो यह परिच्छिन्न देशाकारिता, कालाकारितामें ढलती है, परन्तु अबसे तुम्हारी वृत्ति इन आकारोंकी आकारिताको ग्रहण करती रहे किन्तु तुम्हारी दृष्टि ईश्वराकार रहे, तत्त्वाकार रहे।

प्रतीत्य नाम, रूप और भेद जिस ईश्वरमें दीखते हैं उस ईश्वर-अधिष्ठानमें ये मिथ्या है; और जिस साक्षीको ये दीखते हैं उसके सम्बन्धमें भी ये मिथ्या हैं। क्योंकि उनका भाव उसी अधिष्ठानमें है जिसमें उनका अभाव होता है और उनके भाव और अभावका साक्षी तो वही एक साक्षी है। चेतन होनेसे अधिष्ठान साक्षीसे अभिन्न है। अथवा एक शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व ही युगपत् साक्षी और अधिष्ठानके रूपमें अनुभव हो रहा है। सर्वाधिष्ठान होनेसे वह अद्वितीय है और साक्षी होनेसे वह एक है। सर्वाधिष्ठान होनेसे वही सत् है और साक्षी होनेसे वही चित् है। सर्वाधिष्ठान होनेसे वह सर्वकाम, आप्तकाम सर्वज्ञ, सर्वशक्ति है और साक्षी होनेसे वह असंग निर्दोष है।

वेद कहता है सत्य ऐसा है ही, तुम्हें कोई बनाना नहीं है। बस, तुम एकबार अपनेको उस शुद्ध अनन्त ऐश्वर्यमय दृष्टिसे एकभर कर दो, फिर तुम्हें ऐसा ही दीखेगा। यह वृत्ति नहीं है, दृष्टि है। वृत्ति सांस्कारिक होती है। वह अविनाशी नहीं होती। हो-हो कर टूटती है। टूट-टूटकर फिर होती है। वह सत्यके विषयमें भी होती है और मिथ्याके विषयमें भी। परन्तु अन्तःकरणरूपी समुद्रकी उन अनन्त वृत्तियोंमें जो ज्ञानसूर्य झिलमिला रहा है उस ज्ञानसूर्यकी ओर जरा वृत्ति घुमाओ तो! यह चमक किसी अन्य और बाहरके सूर्यकी नहीं, तुम्हारे स्वयं आत्मस्वरूपकी है जिसमें ये सदसत्-विषयिनी वृत्तियाँ अपने विषय और प्रकाशिकाभिमानीके साथ उदय-अस्तकी

लीला कर रही हैं। यह वृत्ति नहीं, दृष्टि है। द्रष्टाकी दृष्टि है जिसका कभी विपरिलोप नहीं होता क्योंकि द्रष्टा अविनाशी है।

इस ज्ञानमें परतन्त्रता कहाँ है? यह तो सारी परतन्त्रताओंके मूलका उच्छेदक ज्ञान है। ईश्वर अपनी आत्मा होनेसे प्रीतिका विषय है भले ही उस ईश्वरताका स्फुरण किसी भी नाम, रूप या उनके निषेधके निमित्तसे होता हो। जबतक व्यष्टि है उसको समष्टिकी आवश्यकता रहेगी। इसी प्रकार जबतक देहादिका अभिमानी व्यष्टि है तबतक कल्पित समष्टिके स्वामी ईश्वरका बोध आवश्यक है। परन्तु वह ईश्वर डरनेके लिए नहीं है, प्यार करनेके लिए है। और प्यारमें स्वीकार किया गया बन्धन पराधीनता नहीं है। यह स्वाधीनतासे स्वीकार हुआ धर्म-बन्धन है जिसमें मिठास है, सुरक्षाका आश्वासन है और जिसके अन्तमें परम स्वातन्त्र्यकी उपलब्धि है। ईश्वर सचाई है और सत्यका ग्रहण कभी बन्धन उत्पन्न नहीं करता। ईश्वर यदि परोक्ष है तो उसके प्रति प्रेम कभी सांसारिक बन्धन और आसक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता; उल्टे वह प्रत्यक्षके प्रति अज्ञानजनित आसक्ति और बन्धनको दूर करता है। और ईश्वरका यदि आत्मरूपसे साक्षात् हो चुका है तो वह परम स्वान्त्र्य एवं परम आनन्द प्रदान करता है जिससे सारे भेद और भेदजन्य राग-द्वेष सदा-सदाके लिए विदा हो जाते हैं।

ईशा वास्यम् -यह एक दृष्टि है और इस दृष्टिके जिज्ञासुके लिए यह ईश्वरीय भाव है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः-यह ईशा वास्यम् दृष्टिका प्रथम व्यावहारिक फल है। जब सब पदार्थ अपने अभावके अधिष्ठानमें मिथ्या भास रहे हैं तब उसमें कामनाभिमानिताके लिए अवकाश कहाँ? वहाँ जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) भी नहीं है। कार्य-

कारणात्मक श्रृंखला भी वहाँ बहती हुई दीख रही है बस, स्वप्नके समान। उसमें आत्माके पालनका भी क्या अर्थ है? परन्तु लोक-संग्रहकी दृष्टिसे आत्माके पालनका स्वातन्त्र्य भी है। जैसे भी उसकी आत्मदृष्टिका प्रचार-प्रसार हो सकता हो, उसमें एषणाओंका त्यागपूर्वक, उसका ग्रहण करनेका स्वातन्त्र्य वेद उस ज्ञानीको प्रदान करता है।

किन्तु जिनको यह ज्ञान-दृष्टि प्राप्त नहीं है परन्तु जो उस ज्ञानदृष्टिको प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए श्रुतिका यह आदेश है कि 'त्यागमय भोग करो।' परन्तु इस त्यागका आधार ईश्वरमय दृष्टि होनी चाहिए। सब कुछ ईश्वर है, ईश्वरका है और इसलिए ईश्वरके लिए है; अपना तो बस जीवन-निर्वाह मात्रका अधिकार है। इस भावमें किसी कर्मका लोप नहीं है, किसी कर्त्तव्यसे पलायन नहीं है। मात्र उद्देश्यका परिवर्तन है। प्रत्येक भोगकी प्राप्तिपर मनुष्यका यह प्रश्न होना चाहिए कि यह भोग किसके लिए? और उसमें उत्तर होना चाहिए कि ईश्वरके लिए, अनेक नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त ईश्वर-रूप प्राणियोंके लिए; उसमें अपना भी एक भाग है। विश्वके सभी धार्मिक समाजोंमें भोगका वही आदर्श पाया जाता है। अवश्य ही उस समाजके मनुष्य अपनेको मशीन, जड़, भोगी, परतन्त्र प्राणी नहीं मानते हों। सृष्टिको एक अन्ध जड़ प्रकृतिका परिणाम नहीं मानते हों। 'त्याग' सुसंस्कृत-प्रबुद्ध मनुष्यका जीवन होता है, पशुका नहीं। **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**-यह 'ईशा वास्यम्'की दृष्टिका दूसरा व्यावहारिक फल है। यदि भोगमें त्याग आगया तब भोगके साधन 'अर्थ'में, धनमें भी त्याग आजायेगा। इसलिए वहाँ धन विषयमें गर्ध अर्थात् तृष्णा नहीं रहेगी। और उपभोगके लिए धनके स्वामित्वका प्रश्न भी गौण हो जायेगा।

जिज्ञासुके लिए अति तृष्णा पापका मूल है। जब सब ईश्वरने ही दिया है, ईश्वरका ही है तब समाजका सारा धन तो ईश्वरका है और व्यक्ति सिर्फ मुनीम मात्र हो गया। गांधीजीके 'ट्रस्टीशिप'का सिद्धान्त भी इसी वेदमन्त्रकी व्याख्याके अन्तर्गत है।

असलमें **ईशा वास्यमिदं सर्वम्** यह दृष्टि है और **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** तथा **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**-ये दोनों वृत्तियाँ हैं, व्यवहार हैं। अवश्य ही त्याग-प्रधान संस्कृतिके व्यवहार-स्रोत हैं। इन स्रोतोंका यथार्थ मूल्यांकन करनेके लिए हिन्दू दर्शनके पुरुषार्थ-प्रतिपादक सिद्धान्तको समझनेकी आवश्यकता है।

पुरुषार्थ प्रतिपादक सिद्धान्त :

मनुष्यके जीवनमें चार पुरुषार्थ होते हैं : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थका एक अर्थ होता है : श्रम करके प्राप्त करने योग्य। और दूसरा अर्थ होता है पुरुषके द्वारा चाहने योग्य : **पुरुषै अर्थ्यंते इति पुरुषार्थः**। इसलिए पुरुषार्थका अर्थ है वह चीज (चाहे वह वस्तु हो, व्यक्ति हो, परिस्थिति या अवस्था हो) जो मनुष्य चाहता है और श्रम करके भी अपनेसे चिपकाना चाहता है। इन पुरुषार्थ वस्तुओंकी चार कक्षाएँ हैं :

(1) संसारकी वस्तुएँ तथा उन वस्तुओंको प्राप्त करानेवाला धन : ये सब अर्थ कहलाते हैं।

(2) धन, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितियोंका भोग : इनका नाम काम है।

(3) अर्थ और भोगमें व्यवस्था : इसका नाम धर्म है।

(4) व्यक्तिको सब परिच्छिन्नताओंसे मुक्ति, सब बन्धनोंसे निवृत्ति : इसका नाम मोक्ष है।

असलमें तो सुख ही सबका पुरुषार्थ है। 'अर्थ' बाहर रहकर

सुखी करता है; 'काम' मनमें रहकर सुखी करता है और 'धर्म' बुद्धिमें रहकर सुख देता है। 'मोक्ष' तो आत्माकी नित्य आनन्द-स्वरूपताके बोधका ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अर्थसे काम आन्तर है, कामसे धर्म आन्तर है और धर्मसे मोक्ष आन्तर है। मोक्षसे आन्तर कुछ नहीं है, क्योंकि आत्मा सर्वान्तरतम है।

संसारमें 'अर्थ' और 'काम'की ही प्रतिष्ठा है। मनुष्यकी सहज दौड़ इनकी ही प्राप्तिकी ओर है, चाहे वह धर्मपूर्वक हो या अधर्मपूर्वक। जहाँ अधर्मपूर्वक है वहाँ अर्थ और काम संघर्ष एवं राग-द्वेषको जन्म देते हैं। जहाँ वे धर्मपूर्वक हैं वहाँ दो प्रकारकी स्थिति है-जहाँ 'धर्म' भोगके लिए है वहाँ धर्म मात्र शासन-तन्त्र होता है, जिसमें स्पर्धा, संघर्ष, राग-द्वेषका तनुभाव तो होता है; परन्तु व्यक्तिमें उनका अभाव नहीं होता और न वह 'मोक्ष'में सहायक होता है। परन्तु जहाँ धर्म भोगके लिए न होकर मोक्षोन्मुख होता है वहाँ अर्थ और कामकी व्यवस्था तो वह करता ही है उसे सत्योन्मुख भी होना पड़ता है। ऐसा धर्म कोई शासनतन्त्र या व्यक्तितन्त्र मात्र नहीं हो सकता उसे शंसनकारी भी होना पड़ता है अर्थात् सत्यके प्रकाशपर उस धर्म-तन्त्रका आधार खड़ा होता है। वेद उस धर्मका आदि स्रोत है।

अतएव वैदिक धर्म उस नियन्त्रणका प्रकाश करता है, जो एक ओर मनुष्यके अर्थ और भोगका नियन्त्रण करके उसे सत्त्वोन्मुख करता है, और दूसरी ओर उसके जीवनमें सत्यका प्रकाश करके उसे मोक्ष प्रदान करता है। वैदिक धर्म न तो पलायन-वादका पोषक है और न एकांगी जीवनका पोषक है। वह प्रवृत्तिकी स्वतन्त्रता भी देता है और उसपर नियन्त्रण भी करता है। वह निवृत्तिकी भी स्वतन्त्रता देता है; परन्तु वह अकर्मण्यताका पोषक

नहीं है। आत्माके ब्रह्मत्वके बोधसे शरीरकी सर्वविध सहज प्रवृत्तिमें भी आत्मा स्वरूपतः नित्य-निवृत्त ही रहता है, यह अनुभव वैदिक धर्मका अन्तिम लक्ष्य है। वास्तवमें यही मोक्ष है।

जब इस दृष्टिसे हम ईशावास्यके प्रथम और द्वितीय मन्त्रोंपर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि वेद भगवान् अपने इन मन्त्रोंमें मनुष्यके लिए इन चार पुरुषार्थोंका वर्णन इस प्रकार करते हैं :

(1) **ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्** । यह मोक्ष पुरुषार्थका वर्णन है।

(2) **ते त्यक्तेन भुञ्जीथा**। यह काम पुरुषार्थका वर्णन है।

(3) **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**। यह अर्थ पुरुषार्थका वर्णन है।

(4) **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**। यह धर्म पुरुषार्थका वर्णन है।

परिपूर्ण जीवन वही है जिसमें चारो पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो। परन्तु इनका समकाल अनुष्ठान न आवश्यक है और न सम्भव होता है, क्योंकि मोक्ष पुरुषार्थकी दिशा शेष तीन पुरुषार्थोंसे विपरीत है। हाँ, धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका एक ही व्यक्तिमें समकाल अनुष्ठान सम्भव है और करना भी चाहिए तभी अन्तमें मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध होगा।

(1) सरलताकी दृष्टिसे पहिले अर्थ पुरुषार्थको लेते हैं। वेद कहता है : '**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**' अर्थात् किसीके भी धनका लालच मत करो। दूसरे शब्दोंमें, किसी दूसरेके हकका जो धन है, उसका लालच मत करो। सिर्फ अपने हकका धन लो, दूसरेके हकका नहीं। इसमें दूसरेका हक चाहे छीनकर लो या चुपकेसे ले लो, इन दोनों बातोंका निषेध है। गर्ध अर्थात् अतितृष्णा मत करो।

गीध जो मांसभोजी पक्षी है वह उड़ता तो है आकाशमें बहुत उँचाई पर, परन्तु उसकी दृष्टि रहती है मांसके लोथड़ेपर धरतीपर। धनके प्रति गीध-दृष्टि मत अपनाओ कि दुनियामें विद्या, विज्ञान, धर्म, व्यवहार सब धनके लिए। अपने हकमें संतुष्ट रहो। ध्यान रहे यहाँ धनमें संतोषकी बात नहीं है अपने हकके धनमें सन्तोषकी बात है। इस प्रकार यह अर्थ गृहस्थियोंके लिए है, सामाजिक जीवन-वालोंके लिए है।

जो वैराग्यवान् हैं, निवृत्तिमार्गी हैं, संन्यासी हैं उनके लिए वेदका आदेश है कि '**धनम् कस्य स्वित्? मा गृधः**' अर्थात् धन भला किसका है, अर्थात् किसीका नहीं। धनका स्वामी कोई हो ही नहीं सकता, फिर उसके बारेमें तृष्णा, वासना क्यों? सेठ लोग हीरोंको अपना मानते हैं, ठीक है। यह उनका मन है। परन्तु हीरा तो सेठको पहिचानता नहीं। चोर ले जाय तो उसके पास, दुश्मन ले जाय तो उसके पास। धनका स्वामित्व केवल एक अभिमान है। वैराग्यवान् लोग ऐसा सोचते हैं कि धनम् कस्य? धन किसीका नही है। यही वास्तविक दृष्टिकोण है और यही संन्यास है।

धर्मके अनुसार धनका, सम्पत्तिका, संग्रह करो, धर्मके विरुद्ध संग्रह मत करो। अन्यायोपार्जित द्रव्यपर तुम्हारा स्वामित्व उत्पन्न ही नहीं होता। इसीलिए नीतिशास्त्रका कहना है कि-

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते तु एकादशे वर्षे तूलिकेव विनश्यति।।

'अन्यायोपार्जित द्रव्य दस सालतक रहता है। ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही वह रूईकी तरह नष्ट हो जाता है।'

धनके प्रति वेदका यह आदेश है कि 'मा गृधः' लोलुप मत बनो। धन किसीका नहीं है। व्यवहार्य धनका संग्रह, वह भी अपने

हकका, तुम संग्रह कर सकते हो यदि तुम गृहस्थ हो। परन्तु यदि संन्यासी हो तो उसकी भी आवश्यकता नहीं है। यदि आज इस वेदादेशका पालन नहीं करते तो आप वेदानुशासन-भंगके दोषी होते हो और आपकी वासनाका कहीं नियन्त्रण नहीं होगा। परिणाम ब्लैक मार्केट, गबन, तस्करी, चार सौ बीसीके अपराध होंगे और आपका जीवन दुःखी रहेगा।

(2) अब भोग या काम पुरुषार्थकी बात करते हैं। **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** यह हमारे भोगका शोधक-वाक्य है। (भोगके) उसके त्यागपूर्वक अपना पालन करो।

यहाँ 'भुञ्जीथाः' पद भोगनेके अर्थमें नहीं है, पालनके अर्थमें है। भुञ्जीथाः क्रियापद आत्मनेपदी नहीं है परस्मैपदी है और इसका अर्थ है पालन करो, अपना निर्वाह करो, अपनी रक्षा करो। 'आत्मानं पालयेथाः' यह भगवान् शंकराचार्यने अर्थ किया है। माने भोगके द्वारा अपना नाश मत करो।

अधिक मैथुन करोगे तो टी. बी. हो जायेगी, और अधिक मिठाई खाओगे तो डायबिटीज (मधुमेह) हो जायेगा। भोगमें जब अधिकता होती है तो आत्मपालन भी नहीं होता। निर्वाहमात्रके लिए भोग करना चाहिए। भोगमें त्याग रहना चाहिए।

जितना-जितना भोग करेंगे उतना-उतना राग, भोग्य वस्तुमें बढ़ता जायेगा और उतना ही भोगके कौशलका भी विकास होगा। नयी-नयी युक्ति निकालेंगे कि यह भोग और कैसे मिले, भोगकी शक्ति और कैसे बढ़े। और फिर भोगकर शक्ति क्षीण हो जायेगी। रह जायेगा ठनठनपाल। इसलिए भोगके प्रति संयम बरतकर, त्यागपूर्वक, अपनी रक्षा कीजिये।

शरीरकी रक्षाके विषयमें कहा गया है :

पथ्याशी व्यायामी स्त्रिषु जितात्मा नरो....

'पथ्य भोजन करनेवाला, रोज व्यायाम करनेवाला और स्त्रीविषयक (या पुरुषविषयक) कामको जीतनेवाला मनुष्य रोगी नहीं होता।'

यह शरीरके संयमकी बात है। इसी प्रकार अधिक मनोराज्य करना, रागपूर्वक या द्वेषमय विषय-चिन्तन करना ये सब मनकी रक्षामें बाधक हैं। आग्रह-दुराग्रह और यथार्थका पक्षपात न करना, ये बुद्धिको खराब करते हैं। हम मन, बुद्धि, शरीरसे जो भी कार्य करें, उसमें संयम बर्तते हुए उनको पूरा करें। यह 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'-का सरलार्थ है।

(3) इसके बाद धर्म पुरुषार्थकी चर्चा करनी चाहिए। परन्तु श्रुति स्वयं उसकी चर्चा अलग मन्त्रमें करती है। इसलिए हम भी उसकी चर्चा वहीं करेंगे, अर्थात् दूसरे मन्त्रकी व्याख्यामें।

(4) अन्तमें मोक्ष पुरुषार्थकी बात! इस जगतीमें जो कुछ भी स्थावर-जंगम रूप जगत् है वह सब ईश्वरसे आच्छादनीय है। यह श्रुतिका मोक्ष पुरुषार्थका कथन है :

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

मानो श्रुति तत्त्वज्ञके इस अनुभवका बखान करना चाहती है कि : अहा! ये मनुष्य नहीं साक्षात् ईश्वर ही चल-फिर रहा है; ये प्राणी नहीं, ईश्वर ही इनके रूपमें साँस ले रहा है; ये वृक्ष नहीं, ईश्वर ही खड़ा तपस्या कर रहा है; ये सरिता, सागर, नदी नहीं, ये सब ईश्वर ही प्रवहमान होता हुआ दीख रहा है। यह पृथिवी नहीं, ईश्वर ही सृष्टिको धारण कर रहा है; यह सूर्य नहीं, ईश्वर ही जीवन और प्रकाश रूपमें चमक रहा है। यह भीख माँगता भिखारी और दाता बना सेठ, सब ईश्वर रूप ही है। यह शासित और शासकका भेद

मिथ्या है, यद्यपि यह व्यावहारिक है, क्योंकि दोनों ईश्वर ही है। संक्षेपमें, यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरका मन्दिर है, इसमें ईश्वर रहता है, और ईश्वर इनसे अतिरिक्त भी है। जैसे सब जेवरोंमें जो सोना है और सोना जो सब जेवरोंके नाम-रूपसे अलग भी है, ऐसा ही ईश्वर है। और विशेषता यह है कि चेतन होनेसे ईश्वर ही सृष्टिका निर्माता है और वही सृष्टि बना भी है-निमित्त भी वही और उपादान भी वही।

साबरमती आश्रममें हमने एक सूतका वस्त्र देखा जिसमें गाँधीजी दिखायी देते हैं। सूत-विन्यास कुछ ऐसा है कि सूतमें ही गाँधीजी दिखते हैं, उनका डण्डा, घड़ी सब दिखते हैं। तो सूत भी वही और गाँधीजी भी वही। सूतसे अलग आकृति नहीं है। **सूत्रे मणिगणा इव**से गीता भी वही बात कहती है। और **ईशावास्यमिदं सर्वम्**से यह उपनिषद् भी यही बात कहती है।

सत्य ऐसा ही है, इसलिए उपनिषद् 'ईशा वास्यम्' कहता है। अद्वितीयताके इस सत्यका दर्शन ही मोक्ष पुरुषार्थ है क्योंकि इस अनुभवसे समस्त परिच्छिन्नताओं, दुःखों एवं अभावोंकी इतिश्री हो जाती है।

ईश्वरीय व्यवहार :

संक्षेपमें, ईशावास्योपनिषद्का यह कहना है कि आपका व्यवहार ईश्वरानुमोदित होना चाहिए। माने आप जिस किसी वस्तु या व्यक्तिसे व्यवहार करें उसमें पहिले ईश्वरको देखे तदुपरान्त व्यवहार करें।

आप जेवर अवश्य पहिनें परन्तु वह पीतलका है या सोनेका है इसको पहिले जरूर समझ लें। इस दुनियामें सब वस्तुओंका उपादान ईश्वररूप सोना है, इस समझदारीके साथ आप धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका सेवन करें।

हम जो सोचते हैं कि अमुक वस्तुको हम अपनी मुट्ठीमें पकड़के रखेंगे या हम उसकी मुट्ठीमें आजायेंगे, यह ईश्वरानुमोदित व्यवहार नहीं है। क्योंकि सब ईश्वर है और इसलिए प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, कोई किसीकी परतन्त्रतामें नहीं है। उपाधियोंसे असंस्पृष्ट रहना, यही ईश्वरकी ईश्वरता है।

अनासक्त व्यवहार ईश्वरानुमोदित व्यवहार है, क्योंकि ईश्वर कहीं चिपकता नहीं; परन्तु वह किसी भी नाम-रूपसे परहेज भी नहीं करता क्योंकि वही सब कुछ बना है; वही निर्माता भी है और वही निर्मेय भी।

आप सदनुकूल शक्यावच्छिन्न व्यापार करें। अर्थात् आप ऐसा काम करें जिसमें सत्पर दृष्टि हो। आप सबको अन्न दें, वस्त्र दें, मकान दें, ओषधि दें, स्वयं मरनेकी न सोचें और दूसरोंको मृत्युसे बचायें, यह सदनुकूल शक्यावच्छिन्न व्यापार है।

आप चिदनुकूल शक्यावच्छिन्न व्यापार करें। अर्थात् आप ऐसा काम कर जिसमें चित्पर दृष्टि हो। जैसे आप ज्ञानका वितरण करें, स्वयं विद्यार्जन करें, पुस्तकालय, विद्यालय खोलें, स्वयं बेवकूफ न बनें और न किसीको बेवकूफ बनायें।

आप आनन्दानुकूल शक्यावच्छिन्न व्यापार करें। अर्थात् आप ऐसे कार्य करें जिसमें आनन्दपर दृष्टि हो। आप मन, वाणी, कर्मसे दूसरेको कष्ट न पहुँचायें। स्वयं आनन्दित रहें और दूसरोंको आनन्दमें रखें।

आप ब्रह्मकी अद्वितीयताके अनुकूल व्यवहार करें। न फूट डालें न स्वयं फूटें। सबमें सबके साथ समरसताका व्यवहार करें। राग और द्वेषसे दूर रहें। जब मनुष्योंकी आकृतियोंमें भेद नहीं है और उनके धर्मों एवं संस्कृतियोंमें भी वास्तवमें भेद नहीं हैं, केवल

देशकालगत रूपान्तरणमात्र हैं; फिर परस्पर राग-द्वेषको स्थान कहाँ?

ईश्वरको देखनेका अर्थ है ईश्वररीय व्यवहार करना। 'ईश्वर' शब्द आपकी जीभकी नोकपर नहीं रह जाना चाहिए, वह व्यवहारमें भी उतरना चाहिए।

यदि ईश्वरको कोई देखे तो उसके व्यवहारमें पहले तो अभिमान नहीं होगा। वह दूसरोंका तिरस्कार नहीं करेगा। यह अभिमान करना ईश्वरका तिरस्कार करना है। निरभिमानताका व्यवहार ईश्वर-दर्शनकी परिणति-रति है। जैसे पहिले आम कच्चा होता है और बादमें पककर मीठा हो जाता है, ऐसे ही जब आप ईश्वरको देखना शुरू कर देंगे तो अन्तमें माधुर्यका अनुभव होगा। ईश्वर एक सत्य है, उसको आपने शक्लसे, सूरतसे, गुणसे, अपनेसे, परायेसे, रागसे, द्वेषसे ढक दिया है। अब इनको ईश्वरसे ढक दीजिये।

ईश्वरीय व्यवहारकी दूसरी पहिचान है स्पर्धाका अभाव, असूयाका (दूसरेसे जलनेका) अभाव। आप दूसरेसे होड़ नहीं लगावेंगे और दूसरोंको अपनेसे आगे देखकर जलेंगे नहीं।

तीसरे आप यदि ईश्वरीय व्यवहार करते हैं तो किसीको काटनेकी, मारनेकी वासना आपमें नहीं होगी। आप मन, वाणी, कर्मसे अहिंसाका पालन करेंगे।

चौथे आप चोरी, जारी, असत्य-भाषण आदि कुछ नहीं करेंगे। और भी बहुतसे लक्षण बनाये जा सकते हैं। ईश्वरीय व्यवहारके, परन्तु सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। बस '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' तथा '**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**' ये दो सूत्र ही उपनिषद् यहाँ प्रदान करती है : भोगमें त्याग या त्यागपूर्वक आत्मरक्षा तथा धनविषयक लोलुपताका अभाव। शेष सब इन्हींका विस्तार है।

●

द्वितीय मन्त्र

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।2।।

इह=इस संसारमें; **कर्माणि**=शास्त्रोक्त कर्मोंको; **कुर्वन् एव**=(ईश्वरदृष्टिसे त्याग-भावनापूर्वक वस्तुका ममत्व छोड़कर एवं निःस्वार्थ भावसे) करते हुए ही; **शतम् समाः**=सौ वर्ष तक **जिजीविषेत्**=जीनेकी इच्छा करे। **एवम्**=इस प्रकारसे ही; **त्वयि नरे**=तुम मनुष्यमें **कर्म न लिप्यते**=कर्मका लेप नहीं होता, अर्थात् कर्तापन और भोक्तापनका अभिमान नहीं होता। **इतः अन्यथा न अस्ति**=इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

भगवान् शंकराचार्यने अपने भाष्यमें बताया है कि ईशावास्यका प्रथम मन्त्र परमार्थदर्शी पुरुषके लिए है और यह दूसरा मन्त्र उससे भिन्न सांसारिक जनोंके लिए है। किन्तु भगवान् शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र भाष्यमें-

स्तुतयेऽनुमतिर्वा (ब्र. सू. 3.4.14)

की व्याख्यामें कहते हैं कि 'यद्यपि प्रकरण-सामार्थ्यसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस मन्त्रका सम्बन्ध ज्ञानी पुरुषसे ही है, तथापि इसको ब्रह्मज्ञानकी स्तुतिके लिए कर्म करनेकी अनुमति समझनी चाहिए। क्योंकि 'न कर्म लिप्यते नरे' इस वचनका सम्बन्ध अज्ञानीके साथ नहीं हो सकता। अतः इस मन्त्रकी व्याख्या यों करनी चाहिए कि यदि ज्ञानी पुरुष आजीवन कर्म करता रहे तो भी विद्याके सामर्थ्यसे उसे कर्मका लेप नहीं होता। इस प्रकार वक्ष्यमाण मन्त्रमें स्वाभाविक कर्मका अनुमोदन अथवा ब्रह्मविद्याकी स्तुति है।'

अपना दृष्टिकोण है कि सब शास्त्र संन्यासीके लिए ही नहीं हैं और सभी शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय केवल मोक्ष ही नहीं है। शास्त्र सब प्रकारके मनुष्योंके लिए हैं और उनमें धर्म, अर्थ, काम मोक्ष चारो पुरुषार्थोंका प्रतिपादन है।

सब शास्त्र एक पुरुषार्थके प्रतिपादक हैं, यह आग्रह पन्थके आग्रहसे होता है; और पन्थका आग्रह उसमें होता है जो न अपने घर पहुँचा हो और न अपने प्रियतमके घर ही। शास्त्रमें आग्रह नहीं है। जैसे वाल्मीकिरामायण और महाभारतमें चारो पुरुषार्थोंका निरूपण है, वैसे ही वेदों और उपनिषदोंमें भी चारो ही पदार्थोंका निरूपण है। उपनिषद् केवल संन्यासियोंके लिए ही नहीं हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में पुत्र कैसे बलवान्, रूपवान् आदि उत्पन्न किया जाय, यह विद्या है। यह काम-पुरुषार्थका वहाँ वर्णन है और वह गृहस्थोंके लिए ही है।

जैसा कि कहा जा चुका है इस उपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्** मोक्ष-पुरुषार्थका, **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** काम पुरुषार्थका और **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** अर्थ-पुरुषार्थका प्रतिपादन हुआ है। प्रस्तुत दूसरे मन्त्रमें धर्म-पुरुषार्थका निरूपण है। असलमें धर्म ही अर्थ, काम और मोक्षका भी हेतु है। गीताके निम्न श्लोकका मूल भी-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

(गीता 2.47)

जिसको लोकमान्य तिलकने कर्मयोगकी चतुःसूत्री कहा है, ईशावास्योपनिषद्का यह दूसरा मन्त्र ही है। **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** इस मन्त्रमें कर्मयोगका वर्णन है।

सम्पूर्ण जगत्में ईश्वर-दर्शन अर्थात् नाम-रूपको महत्त्व न देना; त्यागपूर्वक आत्म-पालन अर्थात् ऐसा भोग जिससे किसीकी हिंसा न हो, किसीका स्वत्व न छीना जाय, जिससे दूसरेके भोगमें बाधा न पड़े और जिसमें अपनी शारीरिक-मानसिक शक्तिका क्षय न हो; तथा धनके प्रति लोभका अभाव-ये तीनों मनुष्यकी कर्म-प्रवृत्तिपर आघात करती हैं। धनका लोभ नहीं रहा तो धन-प्राप्तिके लिए प्रवृत्ति व्यर्थ हो गयी; भोगोंमें आसक्ति नहीं रही तो भोग-सामग्री एकत्र करनेका प्रयत्न क्यों होगा? और नाम-रूपोंमें महत्त्व-बुद्धि नष्ट हो गयी तो नामके प्रसार अर्थात् यशके लिए और रूपके मोहके लिए भी उद्यम व्यर्थ होगा। इस प्रकार प्रवृत्तिके मूल हेतु मोह, काम और लोभका निषेध पहले ही मन्त्रमें हो जानेसे कर्म-प्रवृत्तिपर आघात पहुँचा। लेकिन अकर्मण्यता शास्त्रको इष्ट नहीं है। गीतामें जो **मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि** है, उसी बातको यहाँ **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**-मन्त्र प्रतिपादित करता है कि धर्मको धर्मके लिए ही करो। धर्मको धनप्राप्ति, भोगप्राप्ति या ईश्वरप्राप्तिके लिए भी मत करो। धर्म करना है निष्काम भावसे।

धर्म धनप्राप्ति या भोगप्राप्तिके लिए न किया जाय, यह बात तो ठीक है, परन्तु धर्म ईश्वर-प्राप्तिके लिए भी न किया जाय, ऐसा क्यों? यहाँ यह समझना चाहिए कि धर्म परमात्माकी प्राप्तिमें साक्षात् साधन नहीं है। जिस तत्त्वका पोषण करना होता है उसके सजातीय तत्त्वकी ही आवश्यकता होती है; विजातीय तत्त्वसे पोषण प्राप्त नहीं होता। व्यष्टिमें जो तत्त्व है, उसका पोषण समष्टिके उसी तत्त्वसे होता है। जैसे शरीरमें जल कम हो गया तो जल पी लिया; गर्मी कम हो गयी तो बाहरसे उष्णता देनेवाले पदार्थ काममें ले लिये। पृथिवी तत्त्वके पोषणके लिए रोटी आवश्यक है और वायुका

पोषण श्वासके वायुसे होता है। इसी प्रकार आत्मा यदि व्यष्टि है तो समष्टिके ईश्वरसे उसका पोषण होगा; किन्तु जब भेदकी निवृत्ति हो गयी तो पोषणका प्रश्न ही नहीं रह गया।

नेत्रको अपने देवता सूर्यसे प्रकाशकी, त्वचाकी वायुके स्पर्शकी, हाथको बलकी आवश्यकता है। किन्तु आत्माको तो कोई आवश्यकता है नहीं। धर्म द्रव्य, क्रिया और कर्ताके आश्रित होता है। अमुक द्रव्यका उपयोग अमुक काममें पवित्र और अमुकमें अपवित्र, अमुक क्रिया धर्म, अमुक अधर्म, अमुक प्रकारका भाव उचित, अमुक अनुचित-इन बातोंका धर्मशास्त्रमें विचार है। परन्तु परमात्माका ज्ञान तो द्रव्य या क्रियाके आश्रित नहीं है। इसलिए धर्म आत्माका सजातीय पोषक तत्त्व नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिमें वह साक्षात् साधन नहीं है।

लेकिन; श्रुतिको अकर्मण्यता इष्ट नहीं है। धर्मका आचरण निष्काम भावसे करना इष्ट है।

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए कर्मानुष्ठान या कर्मत्याग मुख्य नहीं है। सकाम कर्मानुष्ठान तो क्या, कर्मत्याग भी अन्तःकरण-शुद्धिके विपरीत है। वस्तुतः निष्कामता ही अन्तःकरणकी शुद्धि है, चाहे वह कर्मानुष्ठानसे हो या कर्मत्यागसे। सम्पूर्ण निष्कामता तत्त्वज्ञानके द्वारा कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व एवं परिच्छिन्नत्वके बाधसे होती है। अतः तत्त्वज्ञान होनेपर ही सम्पूर्ण निष्काम कर्म हो सकता है। उसके पूर्व निष्काम भाव अर्थात् निःस्वार्थ भावसे कर्म किया जा सकता है। इसके लिए ही प्रस्तुत मन्त्र है।

मन्त्रार्थपर विचार :

कर्मको धर्म मानकर पूरी आयु जीनेकी इच्छा करो **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत शतं समाः।**

इह–अर्थात् इसी जीवनमें, इसी धरतीपर, इसी संसारमें, इसी स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरमें कर्म करना है। कर्मका विधान शरीर छूट जानेके पीछेके लिए नहीं है। **कर्माणि कुर्वन् एव**–कर्म[1] करते हुए ही; निराश होकर कर्म त्यागकर नहीं। गीतामें 'कुर्वन्नपि' और 'कुर्वन्नेव' दोनों ही प्रकारका भाष्य किया गया है। ब्रह्मसूत्रका कहना है कि यह मन्त्र ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके लिए है। अज्ञानीके लिए 'कर्म करता हुआ ही जीये' यह विधान है, और ज्ञानी यदि 'कर्म करता हुआ जीये' तो उसे कर्मका लेप नहीं होता। **जिजीविषेत् शतम् समाः**–सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे। सौ वर्षतक अर्थात् पूरी आयुतक; जितनी भी आयु उसकी हो उतने कालतक।

कुल मिलाकर यह अर्थ हुआ कि इस शरीरमें जो जिस समाजमें, जिस वर्गमें, जिस जाति या जिस देशमें है, वहीं उस समाज, वर्ग, जाति, देश आदिके अनुरूप कर्म करते हुए ही अपनी पूर्ण आयु व्यतीत करे।

संन्यासीके लिए यह मन्त्र नहीं है या संन्यासीको इस मन्त्रके द्वारा कोई विशेष आदेश है, ऐसी कोई बात नहीं है। यहाँ श्रुतिका तात्पर्य है कि जो जिस वर्ण, आश्रम या समाजमें है उसके अनुरूप कर्म करे, कर्मका त्याग न करे।

जैसे पहिले मन्त्रमें 'नाम–रूपमें आस्था न हो, भोगमें आसक्ति न हो, धनमें लोभ न हो' यह विधान है, उसी प्रकार इस दूसरे मन्त्रमें कर्त्तव्यमात्रका विधान है। कर्त्तव्य कर्मका त्याग न करे, उसका यथोचित निर्वाह करे।

यहाँ **जिजीविषेत्** पदपर विचार करें। 'जिजीविषेत्' अर्थात् केवल जीवका निर्वाह चाहे। इच्छा तीन प्रकारकी होती है :–

---

1. कर्त्तव्यकर्म। लोक और शास्त्रमें अविरुद्ध तथा स्वभाव और शास्त्रसे नियत कर्म 'धर्म' या 'कर्त्तव्य कर्म' कहलाते हैं।

(1) 'जिजीविषा' यानी जीवनकी इच्छा।

(2) 'जिज्ञासा' यानी जाननेकी इच्छा।

(3) 'सुखेच्छा' यानी सुख-प्राप्तिकी इच्छा।

क्योंकि आत्माका सच्चा स्वरूप सत्, चित् और आनन्द है, अतः सत्से जीनेकी, चित्से जाननेकी और आनन्दसे सुखकी इच्छा होती है। वेदान्तके शब्दोंमें इसीको हम अस्ति, भाति, प्रिय कहते हैं। अपनी पूर्णताका ज्ञान न होनेसे परिच्छिन्नताका भास हो रहा है, और अपनेको परिच्छिन्न समझ लेनेके कारण जिजीविषा, बुभुक्षा और जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका ज्ञान न होनेसे हम दूसरोंकी सहायतासे जीना चाहते हैं, दूसरोंकी सहायतासे जानना चाहते हैं, दूसरोंकी सहायतासे सुख पाना चाहते हैं। अपनी पूर्णताका ज्ञान हो जानेसे त्रिविध इच्छाएँ कट जाती हैं।

भगवती श्रुतिका कहना है कि 'जिजीविषेत्'-केवल जीनेकी इच्छा करो, भोगमय जीवनकी इच्छा मत करो। झोपड़ीसे काम चलता है तो महल बनानेकी न सोचे। सूती वस्त्रसे निर्वाह होता हो तो रेशमी वस्त्रका लोभ न करे। जिन कामनाओंकी पूर्तिके बिना जीवन चल सकता है, उनकी पूर्तिका प्रयत्न न करे। कर्मसे उतनी ही मजदूरी लो कि जितना चल सके। पूँजीपति बननेका प्रयत्न मत करो। जीवनको भोगकी नहीं, निर्वाहकी आवश्यकता है।

कुर्वन्नेव-करता हुआ ही, इस आदेशके द्वारा कर्मके संन्यासका निषेध हो गया। तब ज्ञानीको भी कर्म करनेका आदेश है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर है-

1. ज्ञानी कर्म करता हुआ ही जीवित रहे, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं हो सकता; क्योंकि विधि-निषेध कर्ताके लिए होते हैं। जिसमें कर्तृत्वका अहंकार नहीं है, वहाँ विधि-निषेध नहीं हो सकते।

अतएव जिसमें कोई विशेषता कर्तृत्वकी, व्यक्तित्वकी नहीं है, उस ज्ञानी पुरुषके लिए यह नियम नहीं है। गीताने भी इस बातको स्वीकार किया है : **तस्य कार्यं न विद्यते** (3.17) अर्थात् ज्ञानी पुरुषके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है।

2. यह नियम कर्मकी स्तुतिके लिए अथवा ज्ञानी यदि कर्म करना चाहे तो उसकी अनुमति है, यह सूचित करनेके लिए है। ब्रह्मज्ञानीको भी कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए, तब जिज्ञासु तथा संसारी पुरुषके लिए तो कर्म करते रहना नितान्त आवश्यक ही है, यह कर्मकी स्तुति या महिमा इस मन्त्रसे प्रकट की गयी है। गीतामें कहा गया–

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। (3.8)

'तुम कर्तव्य कर्मको निश्चित रूपसे अवश्य करो, क्योंकि कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है। मा ते **संगोऽस्त्वकर्मणि** (2.47)' 'तेरी अकर्ममें आसक्ति न होवे', यह भी गीतामें भगवद्वचन है।

शास्त्रको जड़तामूलक अकर्म इष्ट नहीं है, स्वरूप परिस्थिति मूलक अकर्म इष्ट है।

ब्रह्मवेत्ता यदि कर्म करना चाहे तो उसे निषेध करनेका एक भी वचन शास्त्रमें नहीं है। उसे कर्म करनेकी अनुमति है वह चाहे जड़भरत, शुकादिवत् निवृत्तिपरायण रहे अथवा जनकादिवत् प्रवृत्तिपरायण रहे। गीताका घोष है यह :

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। (13.23)

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। (6.31)

सर्वथा, सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी ज्ञानी पुरुष, विद्याके प्रभावसे, जीवनकालमें क्षणभरके लिए भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता और देहपातके अनन्तर उसको देहान्तररूप पुनर्जन्म प्राप्त नहीं होता।

हमने जो व्याख्या की है, उसमें इस प्रकारके प्रश्न उठते ही नहीं हैं। श्रुतिके इन प्रथम तथा द्वितीय मन्त्रोंमें जीवनकी पूर्णताका प्रतिपादन है। जीवनकी पूर्णता चारो पुरुषार्थोंकी पूर्णता होती है। इसलिए पहिले मन्त्रमें सर्वत्र ईश्वर-दर्शन द्वारा मोक्षका, त्यागपूर्वक भोग द्वारा कामका, अर्थमें लोभ न हो-इसके द्वारा अर्थका प्रतिपादन करके इस मन्त्रमें धर्म पुरुषार्थका प्रतिपादन है कि जीवन-निर्वाहकी इच्छा ही करो कर्तव्य कर्मका कर्तव्य-बुद्धिसे पालन करो।

धर्ममें कर्त्तव्य-बुद्धि, अर्थमें निर्लोभता, भोगमें अनासक्ति और सर्वत्र ईश्वर-दर्शन, यह जीवनकी पूर्णता है इसमें वर्ग, वर्ण, जाति, देश आदिकी सीमा नहीं कि यह एक देशके लिए है दूसरेके लिए नहीं; और इतिहास या कालकी सीमा नहीं कि अमुक युगके लिए है या अमुकके लिए नहीं है।

इस प्रकार इस मन्त्रका सम्बन्ध प्रथम मन्त्रसे है और दोनों मन्त्र एक दूसरेके पूरक हैं। ये दोनों मन्त्र मिलकर परिपूर्ण जीवनकी एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं और यह आदेश-उपदेश विश्वके सभी समाजोंके सभी वर्गोंके सभी मनुष्योंके लिए समानरूपसे वैध हैं तथा सार्वकालिक हैं।

कर्म मनुष्यको आलिप्त नहीं करते :

अब आगे इस प्रसंगके उपसंहारकी ओर चलते हैं।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

जब तुम एक मनुष्यके रूपमें जीवन व्यतीत कर रहे हो, तब तुम्हारे लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इस प्रकार कर्म करनेसे मनुष्यको कर्मका लेप अर्थात् कर्तापन और भोक्तापन अभिमान नहीं होता।

एवम् -इस प्रकारसे। किस प्रकारसे? उक्त प्रकारसे सबमें

सर्वत्र ईश्वरको देखते हुए, भोगमें त्याग रखते हुए धनमें लोभ न रखते हुए तथा कर्त्तव्य-बुद्धिसे धर्माचरण करते हुए।

त्वयि इतः अन्यथा नास्ति-तुम्हें और कोई पथ या प्राप्तव्य नहीं रहा। सर्वात्मभावसे बढ़कर कोई अवस्था नहीं है। जीवनकी इस पूर्णतासे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अब कोई अन्य साधन अपेक्षित नहीं रहा। यही जीवनका फल है, दूसरा कुछ फल नहीं। यही सर्वश्रेष्ठ सहजावस्था है।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्थूलबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम्।।

'द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके देवता अग्नि हैं। मुनिगण हृदयमें देवताका ध्यान करते हैं। स्थूल-बुद्धि पुरुष मूर्तिमें देवताबुद्धि करते हैं और जिसने आत्मतत्त्वको जान लिया, उसके लिए सर्वत्र ही परम देवता है। यही सहजावस्था है।

इतः-इसको अर्थात् सर्वात्मभावको छोड़कर; **त्वयि अन्यथा नास्ति**-तुम्हारे लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

न कर्म लिप्यते नरे-इस जीवनकी पूर्णताको अपना लेनेवाले पुरुषको कर्मका लेप अर्थात् संसर्ग नहीं होता।

कर्म अपने कर्ताको कई प्रकारसे आबद्ध करता है :

1. कर्ममें जो सहायक हैं उनसे ममता होती है, उनकी आवश्यकता अनुभव होती है। जैसे दिनभर दूकानसे, ऑफिससे थके घर आये और वहाँ स्वादिष्ट भोजन मिला, तो भोजन देनेवाले अपनेको आवश्यक प्रतीत होते हैं।

2. भोगदाताके प्रति भोग आश्रित या पराधीन बनाता है।

3. कर्म करनेसे उसका अभ्यास बनता है, फिर उस कर्मको न करनेसे बेचैनी प्रतीत होती है।

4. फल उत्पन्न करके भी कर्म वासनामूलक बन्धनका हेतु बनता है। कर्मका फल है सुख या दुःख। कर्ममें विफलता हुई तो दैन्य आता है और सफलता हुई तो अभिमान बढ़ता है। ये सुख और दुःख अभिमानरूप ही हैं। ये घटके समान आभासभास्य नहीं हैं, साक्षी-भास्य हैं। 'अहं घटं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ), इस प्रकार बाह्य पदार्थोंके समान सुख-दुःखकी प्रतीति नहीं होती। 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इस रूपमें सुख-दुःखकी प्रतीति होती है। इसलिए सुख-दुःख अभिमानरूप हैं। यह अभिमान ही कर्मजन्य फलरूप बन्धन है।

अतः अनेक प्रकारसे बन्धनका हेतु होनेके कारण कर्म बन्धन है। परन्तु किसको? जो अज्ञानी हैं और श्रुतिके अनुसार (मन्त्र 1,2 के अनुसार) कार्य नहीं करता, उसको। किन्तु जो श्रुतिके अनुसार वर्तता है उस पुरुषके लिए श्रुति कहती है कि न कर्म लिप्यते नरे अर्थात् उस 'नर'को कर्मका लेप, कर्मका बन्धन नहीं होता। असलमें मन्त्र एक और मन्त्र दोमें बताये गये साधनोंसे युक्त पुरुष ही 'नर' है, वही ठीक मनुष्य है। शेष तो पशु हैं। ऐसे नरको कर्म लिप्त नहीं करते।

भगवान्ने गीतामें कहा-

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। (4.14)

'मुझे कर्म आलिप्त नहीं करते। मुझे कर्मोंके फलमें स्पृहा भी नहीं है। इस प्रकार जो कोई भी मुझे अपने आत्मरूपमें जान लेता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।।

(18.17)

'जिसको कर्मोंमें कर्तापनका अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि (अन्तःकरण) लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण लोकोंको मारकर भी न तो वास्तवमें मारता है और न उसके परिणामसे बँधता है।'

इसका भाव ही यह है कि परमात्मा और ज्ञानी पुरुष, दोनों ही कर्म और कर्मफलके बन्धनसे मुक्त हैं।

जो सर्वत्र ईश्वरको देखता है : **ईशा वास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्**, उसे अपने कर्मोंमें व्यक्ति अथवा कोई भी व्यष्टि सहायक नहीं दीखेगा। वह तो देखेगा कि जैसे उसके कर्ममें प्रकाश देकर सूर्य सहायता करते हैं, प्राणवायु देकर वायु सहायता करते हैं, इसी प्रकार अग्नि, पृथिवी आदि सहायक हैं, पशु-पक्षी तथा अनेक पदार्थ सहायक हैं और ठीक उसी प्रकार कुछ व्यक्ति भी सहायक हैं। उन सबके रूपोंमें विराजमान ईश्वर ही सहायता कर रहा है। अतः व्यक्तिमें मोह या भोगदाताकी पराधीनता नहीं आती।

ऐसे व्यक्तिमें त्यागपूर्वक भोग : **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**की प्रतिष्ठा है। अतः भोगमें आसक्ति नहीं होनेसे उसमें ममता नहीं आती। धनका लोभ नहीं है, अतः प्रमाद नहीं है; और कर्म कर्त्तव्य-बुद्धिसे किया जाता है इससे कर्मासक्ति अर्थात् कर्म करनेका आग्रह भी नहीं है।

इसलिए उस पुरुषको कर्म लिप्त नहीं करते : 'न कर्म लिप्यते नरे।'

'मैं पापी, मैं पुण्यात्मा' यह कर्तृत्व; 'मैं सुखी, मैं दुःखी' यह भोक्तृत्व; और 'राग-द्वेष'-यही तीन युग्म कर्मका लेप है।

राग-द्वेष होता है तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व आता है और उससे

सुख-दुःख होता है। फिर सुखसे राग और दुःखसे द्वेष होता है, और इस प्रकार कर्म-चक्र चलता रहता है। अपने अपरिच्छिन्न आत्म-स्वरूपके अज्ञानसे होनेवाली अहंकी परिच्छिन्नतासे ही राग और द्वेष होता है। सर्वत्र ईश्वरको देखनेसे इस राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। अपने वास्तविक अखण्ड अपरिच्छिन्न स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ऐसे कर्मका लेप नहीं होता।

व्यावहारिक व्याख्या :

मन्त्रमें आये हुए अवधारण 'एव' पर ध्यान दीजिए। संस्कृतमें अर्थकी प्रणाली यह है कि अवधारणको सब शब्दोंके साथ जोड़ा जाता है। ऐसा करनेसे मन्त्रार्थकी उत्कृष्टता बढ़ जाती है! सर्वं **वाक्यं सावधारणम्।**

इह एव कर्माणि एव कुर्वन् एव शतं समाः जिजीविषेत् एव। इहैव मनुष्यलोके न तु जन्मान्तरे लोकान्तरे वा; कर्माणि एव न तु कुकर्माणि, कुर्वन् एव न तु अकुर्वन्, शतं समाः जिजीविषेत् एव न तु जन्मान्तरे परिजिहाषे अथवा केवलं जिजीविषेत् जीवितुं इच्छेत् एव न तु भोगं वाञ्छेत्।

अर्थात् 'यहाँ इस मनुष्य-लोकमें ही-जन्मान्तर या लोकान्तरमें नहीं-सत्कर्म ही करते हुए, कुकर्म करते हुए नहीं; और कर्म करते हुए ही, अकर्मण्य रहकर नहीं; सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे, जीवन-त्यागकी इच्छा न करे; और केवल जीनेकी ही इच्छा करे, भोगकी इच्छा न करे।'

चार्वाक्-दर्शन कर्म करनेको कहता है परन्तु कर्मका उद्देश्य भोग मानता है। जैन-धर्म कर्म करनेको कहता है परन्तु कर्मका उद्देश्य चरित्रकी रक्षा तथा वृद्धि मानता है। बौद्ध कर्म तो करता है परन्तु निर्वाणके लिए। न्यायदर्शन कर्म करता है ईश्वरकी प्रसन्नताके

लिए। योगदर्शन कर्म करता है ईश्वर प्रणिधान या समाधि-लाभके लिए। पूर्वमीमांसा कर्म बताती है अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। परन्तु वेदान्त कर्म करनेको कहता है केवल कर्त्तव्यकी पूर्तिके लिए और जीवनकी परिपूर्णताके लिए।

मनुष्य-जीवनमें कर्मकी अनिवार्यता तो स्पष्ट ही है। गीताके शब्दोंमें :

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येत् अकर्मणः।(3.8)

'कर्म न करनेसे तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकेगी।'

अब प्रश्न यह है कि जब कर्म करना ही है तो कौनसे कर्म किये जायँ? उन कर्मोंको कैसे किया जाय ताकि कर्मका लेप या बन्धन न हो?

यहाँ कर्मका रहस्य जाननेकी आवश्यकता है अन्यथा कर्ताकी गति उस मोटर-चालककी-सी होगी जो मोटर तो चलाता है परन्तु मोटरके यन्त्रके परिचालनसे अपरिचित है। मनुजीका कहना है कि अध्यात्म-विद्याके अधिगमके बिना कर्म वस्तुतः फलप्रद नहीं होते।

एक कर्म होता है वस्तुको शुद्ध करना जैसे कि लोहा शुद्ध करते हैं जिससे कि उससे तरह-तरहकी वस्तुएँ बनायी जा सकें। इस ज्ञानकलाका नाम विज्ञान है। परन्तु वही कर्म तब धर्म हो जाता है जब केवल वस्तु-शुद्धिके लिए नहीं अन्तःशुद्धिके लिए आप उसको करते हैं। जो दिलको शुद्ध करे उस कर्मका नाम धर्म है और जो केवल वस्तुको साफ करे उसका नाम कर्म है।

आप कोई भी काम करें तो यह अवश्य विचार लें कि इस कामका हमारे दिलपर क्या प्रभाव पड़ेगा यदि कोई काम आपके हृदयमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्यको बढ़ावा देता है या

राग-द्वेषकी सृष्टि करता है या भोग -बुद्धिको बढ़ावा देता है, तो उस कामको खूब सोच-विचारकर अत्यावश्यक होनेपर ही करें अन्यथा न करें। इसीका नाम धर्मके लिए कर्मका करना होता है। कर्म अनिवार्य है, यह मनुष्यकी विवशता है; परन्तु कर्मको धर्मके लिए करनेमें विवशता नहीं है, उल्टे स्वातन्त्र्य है। यह बात दूसरी है कि अज्ञान और मोहके वशीभूत होते हुए हमें धर्माचरणमें विवशता दिखायी देती हो! यह बात सही है कि धर्माचरणमें कष्ट होता है। परन्तु जीवमें सारी सिद्धियाँ पीड़ासे ही तो निकलती हैं! अपने जीवनको परम मधुर, स्वादु, चमकदार बनानेके लिए थोड़ा कष्ट तो सहना ही पड़ता है!

उपनिषद्का कहना है कि आप अपनी पूरी आयु जीनेकी इच्छा रखिये। (**शतं समाः जिजीविषेत्**) बीचमें मरनेका संकल्प मत कीजिये। आप सत्यके पुत्र हैं, सत्-स्वरूप हैं। आपके लिए मृत्यु या उसका संकल्प आपके सत् -स्वरूपके विरुद्ध है। यह जो हमको आकृति मिली है, मनुष्यकी, स्त्रीकी, पुरुषकी, माताकी, पिताकी, पुत्रकी, पुत्रीकी इसका सम्पूर्ण उपयोग करें। ये आकृतियाँ आप नहीं हैं। ये प्रयोज्य हैं और आप इनके प्रयोक्ता हैं। इनका उपयोग आप करें, परन्तु इनके कारण उनमें किसी प्रकारकी हीनता अथवा बड़प्पन न स्वीकार करें।

दूसरे, आप जीनेकी इच्छा करें, भोगकी नहीं। दूसरे शब्दोंमें भोगके लिए आप न जीयें। जीवनमें भोग प्रयोजनीय तो है परन्तु उस प्रयोजनमें भी भोग-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। भूख लगी है तो किसी तरह कुछ भी खाकर भूख शान्त हो सकती है, परन्तु अमुक प्रकारसे ही भूख-शान्तिका आग्रह भोग-बुद्धिका परिणाम है।

जब हम कर्मका उद्देश्य भोग स्वीकार कर लेते हैं तो हम मानों

आत्मघात करते हैं। तीसरे मन्त्रमें उपनिषद्ने ऐसे व्यक्तियोंको 'आत्मघाती' बताया है जो भोगके उद्देश्यसे कामवश या क्रोधवश होकर अथवा संग्रहके द्वारा अभिमान बढ़ानेके लिए कर्म करते हैं। कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति स्वयंमें तो तृप्त नहीं हैं और कर्मानुष्ठान कालमें कर्मका जो महत्त्व है उसे भूलकर उस महत्त्वको फल-भोगमें डाल देते हैं। पुरुषके कर्मका महत्त्व जब भोगमें गया तब कर्मकी हत्या हो गयी और अपनी भी हत्या-सी हो गयी। क्योंकि भोगका अर्थ तो यही हुआ कि न तो आत्मा महत्त्वपूर्ण है और न वह कर्म ही महत्त्वपूर्ण है जो हम वर्तमानमें कर रहे हैं। यह आत्माका तिरस्कार है।

तब फिर कर्म ही क्यों? तो उपनिषद्ने तीसरी बात कही कि 'कुर्वन् एव'। कर्म अवश्य करो। कर्म न करना तमोगुण है, जड़ता है, और कर्म न करनेसे तो जीवन ही नहीं चलेगा। आलस्य और प्रमादको छोड़कर जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उसको अवश्य करो।

वृन्दावन-आश्रममें हमने किसीको कहा कि अमुक ब्रह्मचारीजीको अच्छी तरह ठहराकर उनके भोजन, पानी, दूधकी व्यवस्था कर देना। अब महाराज, उन सज्जनने ब्रह्मचारीजीको ठहरा तो दिया परन्तु अन्य व्यवस्था सब भूल गये। अगले दिन हमने ब्रह्मचारीजीसे पूछा कि रातको दूध-ऊध पीया? तो वे बोले : हाँ, महाराज सब ठीक-ठाक है। उनके उत्तरसे हमें कुछ शंका हुई तो उन सज्जनसे पूछा। वे बोले : 'हाय राम! मैं तो भूल गया :' इसका नाम प्रमाद है। अपने कर्त्तव्यको भूल जाना, समयपर उसका याद न आना, प्रमाद कहलाता है। अज्ञान प्रमाद है, असावधानी प्रमाद है, भूल जाना प्रमाद है।

अब कर्तव्यका स्फुरण तो ठीक समयपर हो रहा है परन्तु

उसके करनेमें रस नहीं आता, इसलिए उसे न करना, यह आलस्य है। एक गुरुजीके तीन चेले थे। गुरुजीने एकसे कहा : अमुक व्यक्तिको उसके घरसे बुला लाओ। चेला बोला : महाराज, इस समय वे अपने घरपर नहीं हैं। गुरुजीने दूसरेसे कहा : बेटा, एक गिलास पानी पिला दो। चेला बोला : गुरुजी, इस समय पानी पीयेंगे तो सर्दी हो जायेगी। तीसरे चेलेसे गुरुजीने कहा : जाकर अमुक वस्तु ले आओ। चेला दौड़ा, परन्तु रास्तेमें कोई तमाशा मिल गया। लगे देखने तो कई घण्टे गुजर गये। ये सब आलस्य-प्रमादके उदाहरण हैं।

तो कर्म अवश्य करो, निकम्मे होकर मत जीओ। और आलस्य-प्रमाद छोड़कर जिस समय जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उसको कुशलतासे, भोगेच्छा छोड़कर पूरा करो।

अब कौनसे कर्म करें? तो उपनिषद्ने चौथी बात कही कि 'कर्माणि कुर्वन् एव'-कर्त्तव्य कर्म करो जो शास्त्र और तुम्हारे स्वभावसे नियत किये गये हों तथा लोक और आर्य-मर्यादाके विरुद्ध न हों। यहाँ 'कर्माणि' पदका यही अर्थ है।

मुहूर्तमपि जीवेत् शुक्लेन कर्मणा।

आप दो घड़ी जीयें परन्तु चमककर, राखका ढेर बनकर नहीं, अग्निकी तरह प्रज्वलित होकर रहिये। ऐसे सुन्दर-सुन्दर स्वच्छ, श्वेत काम कीजिये कि आपकी चमक प्रकट हो जाये। बनाइये, सँवारिये, विकार और विनाशसे रक्षा कीजिये-सभ्यता एवं संस्कृतिको आगे और आगे लेते चलिये। इसमें कहीं कोई रुकावट नहीं है। परन्तु इन सबको कीजिये धर्मके लिए, भोगके लिए नहीं।

'धर्मके लिए कर्म' इसका तात्पर्य भी समझें। आप जो भी कर्म

करें उसमें यह दृष्टि रखें कि इसके द्वारा क्या उत्पन्न हो रहा है, क्या सँवर रहा है, क्या दोष मिट रहे हैं? कर्मके तीन उद्देश्य होते हैं :

1. दोषापनयन, 2. गुणाधान, 3. हीनांगपूर्ति।

कर्म करनेसे व्यक्तिमें या समाजमें या तो किसी दोषकी निवृत्ति होती है या किसी अच्छे या वाञ्छित गुणकी सृष्टि होती है अथवा उसके किसी अभावकी पूर्ति होती है। इन्हींको क्रमशः दोषापनयन, गुणाधान तथा हीनांगपूर्ति कहते हैं। एक शब्दमें कहें तो कर्म जितना भी है वह शोधन-प्रक्रिया ही है, कहीं दोषापनयनके द्वारा तो कहीं गुणाधान या हीनांगपूर्तिके द्वारा। यहाँतक कि रोटी खाना भी शरीरकी शुद्धि-प्रक्रियाके अन्तर्गत ही है। यह बात मोकलपुरके बाबाने हमें बतायी थी जब मैं कोई 16-17 वर्षका था। वे कहते थे कि जैसे लोटेमें मिट्टी डालकर, हिलाकर माँजते हैं और मिट्टी सारे मैलको छुड़ा देती है और लोटा चमकने लगता है, उसी प्रकार भोजन भी मिट्टीके समान शरीरको शुद्ध करके बाहर निकल जाता है और शुद्ध शरीरकी स्वाभाविक शक्ति प्रकट हो जाती है।

तो प्रत्येक कर्ममें आप यह देखिये कि उक्त कर्मके फलस्वरूप आपका हृदय, आपकी बुद्धि कहीं राग-द्वेषसे दूषित नहीं होती? कहीं आप अपने कर्मसे लोगोंमें भय, मृत्यु, जड़ता, दुःख, हिंसा, फूटफाटकी सृष्टि तो नहीं करते? कहीं आप अपने कर्म द्वारा संसारकी सुन्दरताको नष्ट तो नहीं करते? यदि इन प्रश्नोंके उत्तर 'नहीं'में हैं तो आप धर्म कर रहे हैं, आपके कर्म धर्मके लिए हो रहे हैं। अन्यथा आप कर्म तो कर रहे हैं परन्तु वह धर्मके लिए नहीं है, वह धर्म नहीं है अधर्म है। उपनिषद्का कहना है कि धर्म करते हुए ही जीयें। यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि ईश्वररूप है। इसमें ईश्वरसे भिन्न जितना भी भय, अज्ञान, दुःख और भेद है वह सब मनुष्यकी

नासमझी और तज्जन्य भोग-बुद्धिसे है। अतः धर्माचरणके द्वारा हमें जगत् और 'स्व'का वही शुद्ध ईश्वररूप प्रकट करना है।

इस प्रकार, कर्म करना है और उसे धर्मके लिए करना है। धर्म ईश्वरका शरीर है। अतः धर्म-धर्मके लिए ही करना है। धर्मकी रक्षा करो, ईश्वर तुम्हारी रक्षा करेगा। जैसे शरीरकी सेवा शरीरीकी सेवा मानी जाती है, वैसे ही जो मनुष्य धर्मके लिए कर्म करता है वह ईश्वरकी ही सेवा करता है। ईश्वरके साथ धर्म भी शाश्वत है। यहाँतक कि संसारमें प्रत्येक स्पन्दन ईश्वरीय धर्म है।

कौन-सा कर्म धर्म और कौन-सा अधर्म? मोटे रूपसे कौन-सा कर्म अच्छा और कौन-सा बुरा? कौन-सा कार्य पाप और कौन-सा पुण्य? इन प्रश्नोंके उत्तरमें बहुत-सा विवाद है। बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं इन विषयोंपर। परन्तु हम उन सब झगड़ोंमें नहीं जाते कुछ मोटे-मोटे उसूल इस सम्बन्धमें बता देते हैं-

1. मनुजीका कथन है कि-

यत्कर्म कुर्वतोऽस्यस्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।।

(मनुस्मृति 4.1)

'जिस कामको करनेके बाद अन्तरात्मामें सन्तुष्टि अनुभव होती हो, उसी कर्मको करे, परन्तु यदि करनेके बाद ग्लानि अनुभव हो कि मैंने बुरा किया तो उस कार्य न करे।[1]

2. जिससे अपना अधःपतन हो और दूसरेका भी अधःपतन हो; मन गिरे, तन गिरे, अहित हो, उसका नाम पाप है। और जिससे अपनी भी उन्नति हो, दूसरोंकी भी उन्नति हो, वह पुण्य है।

---

1. इस आदेशमें ग्लानि उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके न करनेका आदेश ही प्रामाणिक है। सन्तुष्टि कभी-कभी निषिद्ध कर्मोंमें भी प्राप्त हो जाती है। परन्तु वासना छोड़कर जो शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्म हैं उनको करे, भले वे प्रारम्भमें सन्तुष्टि प्रदान न करें।

3. जो कर्तव्य है, पुण्य है वही धर्म है और वही अच्छा कार्य है। जो अकरणीय है, अकर्तव्य है, पाप है, वही अधर्म है और वही बुरा है।

अन्तमें अब यह प्रश्न उठता है कि धर्माचरण किया कैसे जाय? प्रक्रिया क्या है उसकी? तो उसकी रूपरेखा पहले मन्त्रमें प्रस्तुत की जा चुकी है। उसके अंग हैं : सर्वत्र ईश्वर बुद्धि, भोगमें त्याग तथा धनमें निर्लोभता। इसका पर्याप्त विश्लेषण हो चुका है।

इस प्रकारसे कर्म करनेका फल क्या है? तो इसके उत्तरमें उपनिषद्ने दो बातें कहीं :

1. तुम मनुष्योंके लिए इसका कोई विकल्प ही नहीं है : **एवम् त्वयि नान्यथेऽतोस्ति।** और

2. मनुष्यमें कर्मका बन्धन नहीं होगा : **न कर्म लिप्यते नरे।**

न तो कर्म बाँधता है और न आत्मा बँधती है। जिस कर्ममें अभिमान है वह बाँधता है। जिस कर्ममें वासना है वह बाँधता है। जिस कर्मके करनेकी प्रक्रियामें दोष है वह बाँधता है। जिस कर्मका उद्देश्य किसीको दुःख पहुँचाना है वह कर्म बाँधता है परन्तु जो श्रीकृष्णकी तरह कर्म करता है : **न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म फले स्पृहा।** (कर्म मुझे लिप्त नहीं करते क्योंकि मुझमें कर्म-फलकी तृष्णा नहीं है); **कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ।।** (जो कर्ममें आत्माको अकर्ता देखता है और अकर्मरूप ईश्वरमें ही सब कर्मोंको होता हुआ देखता है वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है) : वह कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्ममें ईश्वरत्व आया नहीं कि कर्मके बन्धनसे छूटे! असंगता, त्याग, निर्लोभता, अनहंकारिता, सर्व और अहंकी तात्त्विक एकता, यही ईश्वरत्व है।

आप अपने 'स्व'का विकास कीजिये। अपने शरीरसे हटकर अपने परिवारमें आइये, परिवारसे समाजमें, समाजसे समष्टिमें और समष्टिसे ईश्वरमें आइये। आप नित्य किसी एक व्यक्तिको ईश्वर समझकर भोजन करा दीजिये, किसी एकको ईश्वर समझकर पानी पिला दीजिये, किसी एक रोगीको ईश्वर समझकर दवा दे दीजिये, किसी एक दुःखीको ईश्वर समझकर हँसा दीजिये, किसी एक अज्ञानीको ज्ञान दे दीजिये। लो हो गयी आपकी नित्य ईश्वर-पूजा। यह धर्म भी है और वस्तुस्थिति भी। आप गीतामें पढ़ते तो हैं : हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (हृदयमें ईश्वर बैठा है) परन्तु देखते कहाँ हैं?

जो खाकर सुखी हो सो जीव और जो खिलाकर सुखी होवे सो ईश्वर। आपका ईश्वर उस समय आपसे बातें करता है, आपका ईश्वर आपके भीतर उस समय जागता है, जब आप दूसरेको खिलाकर, दूसरेको हँसाकर, दूसरेको ज्ञान देकर सुखी होते हैं। असलियत यह है कि यहाँ सब ईश्वर ही ईश्वर है, दूसरा कुछ है ही नहीं।

●

तृतीय मन्त्र

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।

आत्महनः जनाः=आत्मघाती मनुष्य; **ये के च**=चाहे वे कोई भी क्यों न हों; **प्रेत्य**=मरनेके बाद; **तान् (लोकान्)**=उन लोकोंको; **अभिगच्छन्ति**=प्राप्त होते हैं; **ते (ये) लोका असुर्याः नाम**=वे जो असुरोंसे निवारण योग्य हैं; **अन्धेत तमसावृताः**=(और) घोर अज्ञानान्धकारसे आच्छादित हैं।

प्रथम मन्त्रमें जगत्‌के नाम-रूपोंकी अनास्था, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन, भोगमें त्याग और धनमें निर्लोभताका प्रतिपादन हुआ तो कर्मपर आघात हुआ। इसलिए दूसरे मन्त्रमें कहा गया कि कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म अवश्य करना चाहिए। इसपर प्रश्न उठता है कि जब कुछ पाना ही नहीं है, तो कर्म भी क्यों किया जाय? या जीनेकी इच्छा भी क्यों की जाय? इसके उत्तरमें यह तृतीय मन्त्र कहता है कि ऐसे सोचनेवाले लोग आत्मघाती हैं और वे अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

केवल देह नष्ट कर देनेको ही आत्मघात नहीं समझना चाहिए। आत्मघाती वह है-

(i) जो प्रकाशका, ज्ञानका आदर नहीं करता। इसके फल-स्वरूप वह सर्वत्र ईश्वर-दर्शन न करके नाम-रूपकी सत्यतामें विश्वास करता है।

(ii, iii) जो इन्द्रियों और प्राणोंकी भूखकी तृप्तिमें लगा रहता है। इसके फलस्वरूप वह भोगोंमें त्याग-भावना नहीं रखता एवं धनका लोभी होता है। इन 'अर्थ' और 'काम'की पूर्तिके लिए वह हिंसा, चोरी, जारी सभी कुछ कर सकता है।

(iv) जो कर्मका कर्त्तव्यबुद्धिसे आचरण न करे, जड़ता-मूलक कर्म-त्याग करता है अथवा जीवन-निर्वाहमात्रके लिए ही कर्म न करके उच्छृङ्खल भोगोंको जुटानेमें ही लगा रहता है।

संक्षेपमें जो मनुष्य मन्त्र एक और दोमें बताये ज्ञानका आदर नहीं करता और उनके अनुसार आचरण नहीं करता, वही आत्मघाती है।

प्राप्त शक्तिका सदुपयोग न करनेसे वह पशुप्राय है, इसलिए इस 'मन्त्रमें उसे 'जन' कहा गया है। 'जन्तु' और 'जन' दोनों शब्द एक ही धातुसे एक ही अर्थमें बने हैं' :

जायते इति जनः तथा जायते इति जन्तुः

प्रस्तुत मन्त्रमें कहा गया है कि आत्मघाती लोग जहाँ जीवनमें निवास करते हैं वहीं मरनेके बाद भी निवास करते हैं, अर्थात् अन्धकार और विषयवासनासे दूषित लोकोंमें-योनियोंमें।[1]

मन्त्रार्थपर विचार : आत्मघाती कौन है?

ये के च आत्महनो जना=आत्मघाती लोग, चाहे वे कोई भी क्यों न हों। यह बात जीवित मनुष्योंके लिए कही गयी है, क्योंकि मरनेके बादकी गतिका वर्णन आगे 'प्रेत्याभिगच्छन्ति' द्वारा किया गया है। इसलिए श्रुतिका कहना है कि चाहे कोई भी जीवित मनुष्य हो-फिर वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हो, गृहस्थी-संन्यासी,

---

1. मन्त्र पाँच तथा दोके ज्ञानके विपरीत आचरण करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन यहाँ (मन्त्र तीनमें) होनेसे प्रस्तुत मन्त्र एक दो का अर्थवाद भी कहा जा सकता है। इस दृष्टिसे मन्त्र छह सातमें अनुकूल ज्ञानके शुभ परिणाम जुगुप्सा अभाव एवं शोक, मोहका नाश'का वर्णन होनेसे वे मन्त्र भी अर्थवादके अन्तर्गत आ जायेंगे। किन्तु ब्रह्मात्मैक्यबोधका फल प्रत्येक अनुभवी सन्तने 'शोक मोहका नाश' बताया है। अतः यहाँ अर्थवाद भी यथार्थका अनुवाद स्वरूप है, केवल गुणवाद या प्रशंसा नहीं। इसी प्रकार यहाँ मन्त्र तीनमें भी अर्थवादको यथार्थका 'अनुवाद' मानना चाहिए।

हिन्दू, मुसलमान, भारतीय, विदेशी, स्त्री या पुरुष कोई भी हो- किन्तु हो आत्मघाती, तो उसके लिए हम यह सर्वजनीय संविधान धाराका इस मन्त्रमें वर्णन करते हैं।

जीवित हो और आत्मघाती ही हो, यह परस्पर विरुद्ध-सी बात लगती है। अतएव 'आत्मघात' क्या है, इसे समझ लेना चाहिए।

जिस वस्तुका जो स्वरूप है, जिसका जो उपयोग है, उसे उस स्वरूप और उस उपयोगसे वञ्चित कर देना उस वस्तुका घात कर देना है। सोनेको पीतलके भाव बेच दिया तो स्वर्णका 'घात' हो गया। कोई राजा कंगाल बनकर भिक्षा माँगने लगे तो वह उसके राजापनका घात हो गया। इसी प्रकार मनुष्य शरीरका मुख्य उद्देश्य जो अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपरिच्छिन्न स्वरूपका ज्ञान है ओ ज्ञान अन्य किसी देहमें प्राप्त नहीं हो सकता, कोई मनुष्य उसे न प्राप्त करके जीवनको भोगोंमें ही लगाये रखे तो वह उस मनुष्य-जीवनका घात ही है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

(केनोपनिषद् 2.5)

इस मनुष्य जीवनमें यदि अपने परिशुद्ध नित्यमुक्त स्वरूपको जान लिया तब तो जीवनका सत्य प्राप्त हो गया, जीवन सत्य हो गया; और यदि इस जीवनमें इस परम सत्यको नहीं जाना तो महान् विनाश हो गया।!

कहाँ तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो और कहाँ अपनेको कर्म-लिप्त, चोर बनाते हो! कहाँ तुम सर्वात्मा, सर्वव्यापी, अपरिच्छिन्न ब्रह्म और कहाँ अपनेको दीन-हीन, परिच्छिन्न क्रोधी और रागी, द्वेषी बनाते हो! तुम्हारे द्वारा आत्मस्वरूपका यह तिरस्कार ही तुम्हारी आत्माका घात है। शुद्धको कर्म-लिप्त, मुक्तको

बद्ध, विभुको परिच्छिन्न और असंगको कर्ता-भोक्ता मानना, आत्म-वस्तुका घात है और ऐसा माननेवाला आत्मघाती है :

योऽन्यथासन्तमात्मान मन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।।

(गीता टीका : श्रीमधुसूदन सरस्वती 13.29)

'जो अन्य प्रकारके आत्माको अन्य प्रकारका जानता है-अर्थात् आत्मा वास्तवमें है तो परिशुद्ध, अपरिच्छिन्न, असंग, मुक्त, किन्तु जो उसे कर्मलिप्त, परिच्छिन्न और बद्ध जानता है वह अपने आत्माका ही चोर है। उसने कौन-सा पाप नहीं किया? अर्थात् उसने तो यही इतना महान् पाप किया है कि दूसरे सब पाप इसके सम्मुख तुच्छ हैं!

बस, यही आत्मघात है! नहीं तो यहाँ मरता भी क्या है? कहीं कुछ मरता-वरता नहीं है। मृत्यु नामकी वस्तु सृष्टिमें है ही नहीं। आप शरीरको जला दें तो मिट्टी-मिट्टीमें मिल गयी, पानी पानीमें मिल गया, वायु वायुमें मिल गया, तेज तेजमें और आकाश आकाशमें मिल गया! आत्मा तो मरती ही नहीं, शरीर चाहे मरे या जीये। किन्तु तुम जब मर गये तो साहूकार होनेपर भी चोर हो गये, योगी होनेपर भी भोगी हो गये, सर्वरूप होनेपर भी रागी या द्वेषी हो गये। तुमने तो मानो खुदकुशी कर ली, आत्मघात कर लिया!

न केवल अन्यथा जाननेवाले, प्रत्युत अन्यथा करनेवाले भी आत्मघाती हैं। कर्ता तीन प्रकारके होते हैं : 1. सात्त्विक, 2. राजस और 3. तामस। सात्त्विक कर्ता केवल कर्म करता है, वह फलकी अभिलाषा नहीं करता **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**के आदेश उसमें रहते हैं। वह कर्तव्य-बुद्धिसे कार्यमें लगता है। किन्तु राजस कर्ता कर्म भी करता है और फलकी अभिलाषा भी रखता **कुर्वन्नपि अभिलषन्नपि**। तामस कर्ता केवल फलकी अभिलाषा करता है,

तदर्थ प्रयत्न या श्रम (कर्म) नहीं करता : **अकुर्वन्नपि अभिलषन्नपि।** ये राजस और तामस कर्ता आत्मघाती हैं; क्योंकि श्रुत्यादेश 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'का उल्लंघन कर के आत्मज्ञानका मार्ग ही अवरुद्ध कर देते हैं।

आत्मघातीका अर्थ है : कामना और ममतासे आक्रान्त भोगी जो जगद्दर्शी तो है, चिद्दर्शी नहीं; जिसमें अभिलाषा और लोभ है, किन्तु त्याग नहीं; जो नामरूपात्मक जगत्को ही सत्य मानकर व्यवहारमें प्रवृत्त है।

ये के चात्महनो जनाः-यहाँ 'ये के च'में जहाँ पक्षपात रहित संविधानका संकेत है, वहीं इस वाक्यमें बहुवचनका प्रयोग भी द्रष्टव्य है। इससे पहले **ईशावास्यमिदं सर्वम्**में **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**में, **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**में और **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**में सर्वत्र एक वचनका प्रयोग हुआ था। इसका तात्पर्य यह है कि जगत्में पहले प्रकारके पुरुष बहुत थोड़े होते हैं। अधिकांश लोग आत्मघाती समुदायके ही हैं। बहुलता उन्हींकी होनेसे उनका वर्णन बहुवचनमें है।

आत्मघाती बनाम असुरोंकी वर्तमान दशा :

अच्छा भाई, बन गये आत्मघाती! क्या हर्ज है? हम इसके लिए भी तैयार हैं! तो श्रुतिने समझाया कि इसमें तो बहुत बड़ा हर्ज है। पता है कि शरीर छोड़कर, मरनेके बाद, तुम्हें कहाँ जाना पड़ेगा? कौन-सी योनि प्राप्त होगी? नहीं मालूम तो सुनो :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

'वे असुरोंके लोक हैं और अन्धतमसे घिरे हैं जहाँ मरनेके बाद वे जाते हैं जो आत्मघाती हैं, फिर चाहे वे कोई भी क्यों न हों।'

असुर्या नाम ते लोकाः द्वारा आत्मघातियोंकी वर्तमान दशा सूचित की गयी है, और **तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति** द्वारा उनकी भविष्यत्-दशा अर्थात् मरणोत्तर गति बतायी गयी है। दोनोंको मिलाकर श्रुतिका तात्पर्य यह निकलता है कि आत्मघाती लोग जीवनभर आसुरी भावमें रहते हैं, अज्ञानीका जीवन बिताते हैं, और मरकर भी आसुरी और अन्धतम योनियोंको ही प्राप्त होते हैं। अब प्रश्न यही रह जाता है कि असुर कौन हैं और अन्धकारयुक्त लोक क्या है?

बचपनमें हम देवताओं, राक्षसों, दानवों और असुरोंके कल्पित चित्र देखते थे तो हमारा खयाल होता था कि असुरोंकी कोई जाति होती है जिनके बड़े-बड़े दाँत और बड़े-बड़े जबड़े होते होंगे, भीमकाय शरीरोंमें भी पशुओंके-से सींग-पूँछ होते होंगे। किन्तु यहाँ ऐसा इसका अर्थ नहीं है। भगवान् शंकराचार्यजीने असुर शब्दका बड़ा बढ़िया अर्थ किया है :

असुसु इन्द्रियेषु रमन्ते इति असुराः।

'असु' अर्थात् इन्द्रियोंके भोगोंमें जो रमण करते हैं उनको 'असुर' कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियोंके सुखोपभोगमें ही जो रमण करते हैं वे विषयी लोग ही 'असुर' हैं। गीतामें भी वेदोक्त सृष्टि कर्मके विपरीत आचरण करनेवालोंको 'इन्द्रियाराम' कहा गया है :

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति। (गीता 3.16)

इन्द्रियाँ विद्यात्मक और अविद्यात्मक दोनों होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ विषय-प्रकाशिका होनेसे विद्यात्मक[1] हैं, निर्देशक हैं; किन्तु कर्मेन्द्रियाँ निर्देशपालक कर्मकार (मजदूर) हैं और इसलिए वे अविद्यात्मक[2] हैं। इन इन्द्रियोंका नियन्ता है मन और मनकी

---

1. 2. रचनाकी दृष्टिसे ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्चभूतोंकी सत्त्वगुणी तन्मात्राओंसे बनी हैं और कर्मेन्द्रियाँ तमोगुणी तन्मात्राओंकी पञ्चीकृत कार्य हैं।

संचालिका है बुद्धि। बुद्धि यदि अनुशासित और सत्यकी पक्षपातिनी है तो मन और इन्द्रियाँ 'सत्य'की ओर जायेंगी। किन्तु यदि बुद्धि वासनाक्रान्त है तथा मन और इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषयोंमें सुख-बुद्धिकी धारणा करनेवाली है तो ऐसे व्यक्तिको इन्द्रियाँ उन्हीं जड़ विषयोंमें ले जायेंगी।

जो असुर हैं, इन्द्रियाराम हैं, उन्हें उनकी इन्द्रियाँ वहीं ले जायेंगी जहाँ उनको सुख या आराम मिलता है। इन्द्रियोंको सुख मिलता है विषयों-जड़में। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंके भोगोंमें प्रीति करनेवाले विषयोंमें ही लगे हैं। ये श्रम तथा भोगमें फँसे लोग जड़में आबद्ध हैं, घोर अन्धकारमें डूबे हैं : **अन्धेन तमसावृताः।**

'ईशावास्य'-जैसे छोटे-से उपनिषद्में 'अन्धंतमः' शब्द इतनी अधिक बार[1] आया है कि यह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य हो गया है। इस शब्दका अर्थ इसी मन्त्रमें स्पष्ट किया गया है।

अपने पास दो प्रकारकी इन्द्रियाँ हैं : ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ। इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशयुक्त हैं और कर्मेन्द्रियाँ सर्वथा अन्ध। ज्ञानेन्द्रियाँ 'देखती' हैं, परन्तु चलती नहीं; कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं, चलती हैं, परन्तु 'देखती' नहीं। शरीरमें 'अन्ध-पङ्गु-न्याय'[2]से ही सारा व्यवहार होता है। इन दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंसे

---

1. यथा-अन्धेन तमसावृताः।।3।।; अन्धन्तमः; प्रविशन्ति येऽविद्यासुपासेत।।9।। अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।।12।।

2. दो व्यक्ति तीर्थाटनको निकले। उनमें एक अन्धा था और दूसरा पंगु। दोनोंकी यात्रा ही कष्टप्रद थी। उन्होंने मिलकर यह योजना बनायी कि क्यों न अन्धेके कन्धेपर पंगु सवार हो जाय? पंगु अन्धा नहीं था, इसलिए वह देखकर रास्ता बताता जाता था और अन्धा पंगु नहीं था, इसलिए वह बताये अनुसार चलता जाता था और वर्णनका आनन्द लेता जाता था। इस प्रकार दोनोंको तीर्थाटनका पुण्य प्राप्त हो गया। न्यायशास्त्रमें 'ज्ञानके अनुसार क्रिया और पुनः क्रियाके बलपर ज्ञानकी वृद्धि' इसे 'अन्ध-पंगु-न्याय' कहते हैं।

होनेवाला श्रम अन्ध है; किन्तु धर्म प्रकाशयुक्त है। धर्म बुद्धिमें रहता है और ज्ञानसे अभिन्न है।

जो लौकिक वस्तु लौकिक जीवनमें अतिशयता उत्पन्न करे उसे 'श्रम' कहते हैं; और जो अन्तःकरणमें दोषापनयन करे या गुणाधान करे उसे 'धर्म' कहते हैं।

'स्रक् चन्दन वनितादिक भोगा', इस प्रकारके सभी भोग ज्ञानेन्द्रियोंसे भोगे जाते हैं। लेकिन सुख कर्मेन्द्रियोंसे सम्पन्न हुए कर्ममें भी होता है। 'हमने इतना श्रम किया, इतना कार्य कर लिया' इस प्रकार अभिमानका सुख कर्ममें है। 'हमारे पास इतने उत्तम भोग हैं' अथवा 'हमने इतने उत्तम सुख भोगे' यह अभिमानका सुख भोगमें है। सुख दोनों स्थानोंपर अभिमानका ही है।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि सुख-दुःख साक्षिभास्य हैं, ये अभिमानसे ही होते हैं। ज्ञानेन्द्रियोंसे भोगका सुख लेनेवाला जड़ विषयोंसे भोगसुख प्राप्त करता है, अतः उसकी आसक्ति जड़में है; और कर्मेन्द्रियोंके कर्मोंमें अहंकारका सुख लेनेवाला भी जड़में ही आसक्त है। अतः दोनों प्रकारके ही लोगोंकी चित्तवृत्ति जड़ भावसे वासित होनेके कारण उन्हें जड़ताकी प्राप्ति होगी। भोगकी प्राप्ति एवं कर्म-ये दोनों श्रम ही हैं, और यह श्रम अन्धकारकी ओर ले जाता है। जड़त्वकी प्राप्ति 'अन्धन्तम' है।

चित्तको चाहे कार्य-ब्रह्ममें लगायें या कारण-ब्रह्ममें, वृत्ति लय करें या विक्षिप्त, नेत्र खुले रखें या बन्द, जबतक दोमें-से एक बात बनी रहेगी, जड़ताकी प्राप्ति होगी। अतः दोनों स्थितियोंका समन्वय होना चाहिए। वह समन्वय यह है कि श्रम जब धर्म बनेगा तब जड़तासे, अन्धन्तमसे छुटकारा प्राप्त होगा।

तो असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः ये जो

असुरोंके योग्य लोक हैं वे अन्धतमस्से आच्छादित हैं, अर्थात् इन्द्रियोंके सुखोपभोगमें डूबे, वेद-शास्त्रकी मर्यादाका पालन न करनेवाले विषयी जीव घने अन्धकारसे ढके हैं। वे जीव चाहे मनुष्य हों या पशु, पक्षी हों या कीट-पतंग। उन योनियोंमें केवल भोगोंका ही मन्द प्रकाश है।

यहाँ 'लोक' शब्दका अर्थ 'स्थान' या 'धाम' नहीं है, 'योनि' या 'जन्म' है। भगवान् श्रीशंकराचार्यजीने 'लोक' शब्दका अर्थ किया है :

लोकाः कर्मफलानि, लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि।

'जिनमें कर्मफलोंका लोकन-दर्शन अर्थात् भोग होता है, वे जन्म अर्थात् योनियाँ 'लोक' कहलाती हैं।'

जहाँ कुछ आलोक हो उसे 'लोक' कहते हैं, भले ही वह आलोक भोगोंका, विषयोंका ही हो : 'लोक्यन्ते इति लोकाः'। **कर्मफलत्वेन लोक्यन्ते इति लोकाः** जो कर्मके फलसे दीख पड़ते हैं-प्राप्त होते हैं, उन्हें लोक कहा जाता है। कर्मफल-भोगरूप प्रकाश वहाँ है। जहाँ कुछ संज्ञान नहीं होगा, वहाँ कर्मफलके भोगकी सुख-दुःखरूप अनुभूति कैसे होगी?

कुल मिलाकर अभीतक यह निष्कर्ष निकला कि जो 'ईशा-वास्यमिदं सर्वम्'के विपरीत हैं, अर्थात् जो सर्वत्र ईश्वरको नहीं देखते वे आत्मघाती हैं। जो भोगमें त्याग, धनमें अलोलुपता और कर्ममें धर्म स्वीकार नहीं करते, वे आत्मघाती तो हैं ही, वे आसुरी योनिवाले भी हैं।

आत्मघातियोंकी मरणोत्तर गति :

अब श्रुति बताती है कि आत्मघाती लोगोंकी मरणोत्तर गति क्या होती है!

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति

मरकर भी ये आत्मघाती लोग वहीं जायेंगे जहाँ इस वर्तमान जीवनमें हैं। जीवनमें ही वे **अन्धेन तमसावृताः** जड़ विषयोंमें रत हैं, अतः मरकर भी वे जड़ताको ही प्राप्त होंगे। भगवान् शंकराचार्यने इसका नियम यह बताया कि : **यथा कर्म यथा श्रुतम्** अर्थात् जैसा जीवका वर्तमान कर्म और वासना है और जैसा उसका ज्ञान है, उसीके अनुसार जीवको मरनेके बाद दूसरी योनि मिलती है।[1]

हमारे एक मित्र थे, हमारे पिताश्रीके शिष्य। किन्तु क्षत्रिय शरीर था, इसलिए उन्हें मांस खानेका बहुत अभ्यास था। हमें गुरुपुत्र तो मानते ही थे। एक दिन बात-बातमें पूछ बैठे : 'महाराज, अगर मरनेके समय मांस खानेकी इच्छा हो गयी तो क्या होगा?' मैंने कहा : 'गीध बनोगे, और क्या? क्योंकि गीध होनेपर मांस खूब खानेको मिलेगा।' वे बोले : 'अरे राम! ऐसा है तो लो मांस खाना छोड़ता हूँ।' और उस दिनसे उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया।

तात्पर्य यह कि यदि मांसमें रुचि होगी तो उसी रुचिके अनुसार आपका अन्तःकरण बनेगा। उसीके अनुसार आपके सूक्ष्म शरीरकी आकृति बनेगी, और वह उस शरीरमें जाकर पड़ेगी जहाँ खूब मांस खानेको मिले। फिर आप शेर, गीदड़, गीध, चील या कौआ भी हो सकते हैं और मांसमें पड़े कीड़े भी हो सकते हैं!

इसका अर्थ है कि अन्धकार ही अन्धकार है : **अंधेन**

---

1. तुलनी कीजिये :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। (गीता 8.6)

तमसावृताः। पता नहीं अन्धेरेमें कहाँतक गिरोगे! हमारा जीवन चाहता है प्रकाश और हम गिरेंगे अन्धकारमें! इसीलिए वेद भगवान् वृहदारण्यक उपनिषद्में ईश्वरसे प्रार्थना करना सिखाते हैं :

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

'हे प्रभो! आप हमें असत्से सत्की ओर ले चलिये, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये, मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये।'

तो यदि कोई भी मनुष्य जो आत्मघाती है वह जीवित रहते हुए भी अन्धकार और जड़तामें रहता है और शरीर छोड़नेके बाद भी उन्हीं अन्धकारयुक्त आसुरी योनियोंको प्राप्त होंगे।[1]

मरणोत्तर गति देशसे देशान्तरकी प्राप्ति नहीं है। वह भावसे भावान्तरकी प्राप्ति है। आज एक व्यक्तिका भाव है कि 'मैं मनुष्य हूँ' : इससे भावान्तरकी प्राप्ति हुई उसे कि 'मैं गीध हूँ'। अब मनुष्याकार स्थूल देहकी इस खोलका क्या हुआ? यह जलाया गया, गाड़ा गया या जलमें प्रवाहित किया गया; इसका इसके लिए क्या महत्त्व है! जीवनमें व्यक्ति जैसा है, उसकी भावना बँधी है, मृत्युके पश्चात् भी उसे उसी भावान्तरकी प्राप्ति होगी। इसलिए वह आत्मघाती है जो जीवनमें विषयोंमें–जड़ पदार्थोंमें रत है :

---

1. तुलना कीजिये :

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।
(गीता 16.19-20)

उपसंहार :

इस मन्त्रका तात्पर्य यह है सबको मूर्खताका, अज्ञानका जीवन त्यागकर प्रबुद्ध जीवन व्यतीत करना चाहिए।

असुर मत बनो! आत्मघाती मत बनो! अन्धतमस्‌में प्रवेश मत करो! असुर बनता है मनुष्य **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**की उपेक्षा करनेसे, इन्द्रियाराम होनेसे। और असुर बनकर वह **अन्धतमस्** में प्रवेश करता है, और **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** की उपेक्षा कर देता है; तथा **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** का आदर्श उसके सामने नहीं रह जाता। **ईशावास्यमिदं सर्वम्** का ज्ञान न होनेसे वह नाम-रूपात्मक प्रपंचमें ही रत होकर आत्मघाती बनता है। फलतः बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है।

ईश्वरको, अपने आत्मस्वरूपके ज्ञानको छोड़कर जिस विषय-सुखके लिए वह प्रवृत्त होता है, वह भी उसे उसकी इच्छानुसार प्राप्त नहीं हो सकता-यह भी ज्ञान उसे नहीं। वह तो घोर अन्धकारमें, अन्धतममें भटक रहा है। प्रश्न होगा-ऐसी अवस्था क्यों हुई? उत्तर स्पष्ट है-ईश्वरके अतिरिक्त जगत्‌की सत्ता माननेसे!

●

चतुर्थ मन्त्र

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो
मातरिश्वा दधाति।।4।।

(तत्)=वह ईश्वर अथवा आत्मा; **अनेजत्** =अपरिणामी; **एकम्** =अद्वितीय है। **मनसः जवीयः**=मनसे भी अधिक वेगवान् है (क्योंकि मन जहाँ जाता है, जो बनता है, वहाँ वह पहलेसे ही विद्यमान है। **देवा**=द्योतनात्मक इन्द्रियाँ; **एनत्** =इसे; **न आप्नुवन्**= प्राप्त नहीं कर सकतीं; (**हितत्**)=क्योंकि वह; **पूर्वम् अर्षत्** =उन इन्द्रियोंसे पूर्व ही है। **तत्**=वह ईश्वर; **अन्यान् धावतः**=दूसरे सब गतिशील परिणामी पदार्थोंका; **तिष्ठत् अत्येति**=स्वयं अचल रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाता है। **तस्मिन्** =उसीमें अध्यस्त; **मातरिश्वा**=अन्तरिक्षविहारी वायु; **जपः दधाति**=प्राणियोंका बीज-कर्म विभाग करता है।

प्रथम मन्त्रमें जिसे 'ईश्वर' और तृतीय मन्त्रमें 'आत्मा' कहा गया है, उस 'ईश्वर' और 'आत्मा'का स्वरूप क्या है? इस प्रश्नके उत्तरकी विवेचनाके बिना श्रुतिके दोनों आदेश : 'सब कुछ ईश्वरसे ढँक दो' तथा 'आत्मघाती मत बनो' अधूरे रह जायेंगे।

शान्ति-पाठमें जिस परोक्ष परिपूर्ण ब्रह्मतत्त्वका 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' द्वारा व्याख्यान किया गया था, उसीको श्रुतिने प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदम्'में ईश्वर कहा है। किन्तु तृतीय मन्त्रमें जिस 'आत्मा'का घात करनेवालोंकी दुर्दशाका वर्णन है, वह आत्मा उस ब्रह्म या ईश्वरसे एक है या भिन्न, यह बात स्पष्ट नहीं हुई।

एक ओर 'ईश्वर' नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त एवं जगत्‌का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है किन्तु श्रद्धैकगम्य होनेसे परोक्ष है। दूसरी ओर 'आत्मा' अपरोक्ष है; किन्तु अत्यन्त अल्पकर्ता, अत्यन्त अल्पभोक्ता, सुखी-दुःखी, संसारी जीव है जो अज्ञानसे आक्रान्त, भयसे अभिभूत तथा एक शरीरमात्रमें बँधा है। ऐसी दशामें दोनोंका ऐक्य दिन और रातके समान परस्पर विरोधी है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि ईश्वर और आत्मा, दोनों एक ही ब्रह्मतत्त्वके दो नाम हैं। यदि ईश्वरकी परोक्षता और आत्माकी परिच्छिन्नता रज्जु-सर्पवत् मिथ्या भासमान हो तो भेदकके मिथ्या होनेपर उनके सच्चिदानन्द स्वरूपकी एकता नित्यसिद्ध हो जाती है। 'ईश्वर'से परोक्षता और 'आत्मा'से परिच्छिन्नता निकाल दें, तो दोनों एक ही हैं।

वेदान्तमें 'ईश्वर'को 'तत्'-पदवाच्य कहा जाता है और आत्माको 'त्वं'-पदवाच्य। वाच्यार्थमें 'ईश्वर' और 'आत्मा'की एकता सम्भव नहीं। अतः लक्षणा द्वारा 'ईश्वर' और 'आत्मा'के लक्ष्यार्थमें (चित् तत्त्वमें), दोनोंकी एकता श्रुति भगवती 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा प्रतिपादित करती है।

केवल वाच्यार्थका ज्ञान कर्माङ्ग-ज्ञान होता है। अर्थात् वाच्यका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद तदर्थ कर्म करना शेष रह जाता है। जैसे जगत्कारण ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद तदर्थ कर्म करना शेष रह जाता है। जैसे जगत्कारण ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद उसकी उपासना, भावसमाधि आदिका करना ही शेष रह जाता है, और कर्ता-भोक्ता आत्माका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद सर्ववृत्ति-निरोधपूर्वक निर्बीज समाधिकी साधनी ही शेष रह जाती है। दोनों दशाओंमें ईश्वर तथा आत्माका ज्ञान कर्मका अंग ही है। किन्तु

उपनिषदें (वेदान्त) ऐसे ज्ञानका प्रतिपादन करती हैं जो शुद्ध ज्ञान है, कर्मका शेष नहीं। यह शुद्ध ज्ञान 'ईश्वर' और 'आत्मा'के पारमार्थिक ऐक्यका ज्ञान है जो महावाक्यों द्वारा उत्पन्न वृत्तिसे सम्पादित होता है। यही तत्त्वज्ञान उपनिषदोंका मुख्य विषय है। इसे प्राप्त करनेके अनन्तर कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता। कृतकृत्यता, प्राप्तप्राप्तव्यता, ज्ञातज्ञातव्यता इसके लक्षण हैं।

कर्मका अङ्गीभूत ज्ञान संस्कारजन्य एवं संस्कारफलक होता है; किन्तु तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान न तो संस्कारजन्य होता है और न संस्कारफलक।[1] आत्मविज्ञान न कुछ करनेके लिए है और न कुछ पानेके लिए। वह तो यथार्थतः ज्यों-की-त्यों स्थिति है। यह तत्त्वज्ञान संसारके किसी मत-मजहबमें नहीं, वेदान्तकी अपनी सम्पत्ति है। संन्यासियोंने इसे अपनी परम्परामें छिपाना चाहा, पर छिप न सका। '**कहाँ लौं समानी चन्द हाथन छिपाइबो।**' कोई चन्द्रमाको हाथसे कहाँतक छिपायेगा।

क्या आप आत्मघातसे बचना, असुरतासे मुक्त होना या अन्धतमसे छुटकारा पाना चाहते हैं? यदि हाँ तो अपने आत्माके स्वरूपको जानिये, संसारको ईश्वरमय देखिये। इसका अर्थ है कि आप आत्मा और परमात्माका वास्तविक स्वरूप जानिये। इसी उद्देश्यसे श्रुति चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रोंमें आत्मस्वरूपका वर्णन करती है।

चतुर्थ मन्त्रमें आत्माकी अचलता, पूर्णता, अद्वितीयता और सर्वाधिष्ठानरूपता प्रतिपादित है और पञ्चममें आत्माके अपरिच्छिन्नत्वका निरूपण। वह देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित अन्तर्बाह्य-शून्य है, वह वर्णन है।

---

1. *सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।*
पराङ्गं चात्मविज्ञानात्रान्यत्र ह्यवधार्यवात् ॥–श्री सुरेश्वराचार्य

एक दूसरी दृष्टि भी है। चतुर्थ मन्त्रमें कार्य-कारण-सहित (सगुण) परमात्मतत्त्वका निरूपण है तो पञ्चममें कार्यकारणरहित (निर्गुण) परमात्मतत्त्वका। दोनों मन्त्र प्रथम और तृतीय मन्त्रोंके पूरक हैं। वह ईश्वर कौन है जिससे '**यत् किञ्च जगत्यां जगत्**'को आच्छादित करता है? और वह आत्मा कौन है जिसका घात करनेवाले **अन्धेन तमसावृताः** लोकोंको जाते हैं? श्रुति यह बतलाना चाहती है कि तत्त्वतः 'ईश्वर' और 'आत्मा' एक ही हैं। उपाधिभेदसे ही इनमें भेद है, वास्तविक नहीं।

यदि आपने अपनेको कर्ता अर्थात् पापी, पुण्यात्मा जाना; भोक्ता यानी सुखी-दुःखी होनेवाला जाना, संसारी यानी स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला और परिच्छिन्न यानी प्रति शरीर भिन्न जाना, तो आपको 'तत्त्वज्ञान' नहीं 'कर्मसे सम्बन्ध ज्ञान' हुआ है। आप अभी आत्मघातके क्षेत्रसे नहीं बचे।

इसी प्रकार यदि आपने जगत्कर्ता, जगत्कारण, सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति, सर्वव्यापक, किन्तु आत्मासे (जीवसे) भिन्न किसी ईश्वरको जाना तब भी आपको कर्मसे सम्बद्ध ज्ञान ही हुआ, तत्त्वज्ञान नहीं।

किन्तु औपनिषद् ब्रह्मज्ञान आपको एक ऐसे अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी एवं परिच्छिन्न आत्माका ज्ञान कराता है जो सर्वथा अपरोक्ष है और जिससे ईश्वर अभिन्न है। जिसमें भेदकी गन्ध भी नहीं और न अपना-पराया कुछ है। इसमें न जन्म है और न मृत्यु! ऐसा ज्ञान उपनिषदों द्वारा ही प्राप्त होता है। बहिर्मुख लोग उसे जान नहीं सकते।

मन्त्रार्थपर विचार :

1. **आत्माका प्रथम परिचय : अनेजत्** =आत्मा चलता नहीं है। **एजृ कम्पने** धातुसे 'एजत्' शब्द बनता है जिसका अर्थ है

कम्पायमान, गतिशील। 'अन्' प्रत्यय लगाकर, अन्+एजत्= अनेजत्=निष्कम्प, गतिरहित पदार्थ, अथवा गतिशील पदार्थसे विलक्षण।

संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो गतिशील न हो। इसलिए आत्मा इन सब जागतिक पदार्थोंसे विलक्षण होना चाहिए। जिसमें सम्पूर्ण गतियाँ हों, जो सम्पूर्ण गतियोंका अधिष्ठान हो, वह स्वयं गतिहीन होता है, और जिसे सब गतियाँ दीखती हैं अर्थात् जो सर्वगतियोंका साक्षी है वह भी गतिहीन होता है। द्रष्टाके अपरिणामी हुए बिना किसी भी परिणामकी साक्षिता सम्भव नहीं। साक्षी व्यष्टि नहीं होता, प्रत्युत व्यष्टि-समष्टिका साक्षी 'साक्षी' होता है। इसलिए साक्षी और सर्वाधिष्ठान तत्त्वतः एक ही है। दूसरे शब्दोंमें जो आत्मा है वही ईश्वर और जो ईश्वर है वही आत्मा है। उसी एक तत्त्वका नाम 'ब्रह्म' है। इसलिए जब श्रुति 'तत्त्वमसि'का उपदेश करती है तो तत् -पद-वाच्यार्थ (ईश्वर) और त्वं-पद-वाच्यार्थ (आत्मा)का ब्रह्मतत्त्वसे ऐक्य सूचित करती है।

आत्मा निष्कम्प है, इसका अर्थ है-वह अपरिणामी, निर्विकार एवं एकरस है। उसकी अपने स्वरूप 'निष्कम्पता'से कभी प्रच्युति नहीं होती।[1]

कुछ लोग कहते हैं कि 'प्राणवायु ही आत्मा है, क्योंकि प्राण रहते ही शरीर गतिशील होता है, जीवित रहता है। और प्राणोंके न रहनेपर शरीर मर जाता है, गतिहीन हो जाता है।' इस मतका निषेध करनेके लिए आत्माको यहाँ 'अनेजत्' कहा गया है। गति आत्मा या ईश्वरका मुख्य लक्षण नहीं। वह दृश्य होनेसे जड़के क्षेत्रमें आता है। आत्माका मुख्य लक्षण तो ज्ञान है।

---

1. कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितम् , सर्वदैकरूपमित्यर्थः।

(शांकर-भाष्य)

सत्यकी परिभाषा यह है कि जिस रूपमें जिसका निश्चय किया जाय उस रूपसे उसमें कभी परिवर्तन न आये। मुकुट, कुण्डल, हार, कङ्कन आदिके रूपमें परिवर्तित होनेपर भी स्वर्ण सर्वत्र स्वर्ण ही रहता है; उसके स्वर्ण-रूपमें कोई अन्तर नहीं आता। आकार औपाधिक होता है और अनारोपिताकार तत्त्व ही सत्य है। किसी भी आभूषणके आकारसे विनिर्मुक्त स्वर्ण ही स्वर्णतत्त्व है। इसी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व-संसारित्व और परिच्छिन्नत्व तथा कार्य और कारणकी उपाधिसे विनिर्मुक्त आत्मा ही ब्रह्मतत्त्व है। कारणकी उपाधिसे ब्रह्मको 'ईश्वर' कहते हैं और कार्यकी उपाधिसे उसीको कहते हैं 'आत्मा'।

'अनेजत्' कहकर श्रुति आत्मामें गति या प्राणवायुका ही नहीं, कालका भी निषेध करती है। व्यष्टिमें, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-ये तीनों अवस्थाएँ कम्पायमान, गतिशील हैं, क्योंकि ये परस्पर व्यावर्तक हैं। एक अवस्था आती है तो दूसरी चली जाती है। इसी प्रकार समष्टिमें सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी अवस्थाएँ गतिशील हैं। श्रुतिका कथन यह है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका समस्त प्रपञ्च समष्टिसे सब 'एजत्' है; और इन सबसे विलक्षण, इनका अधिष्ठान एवं साक्षी जो ब्रह्म-तत्त्व है वह 'अनेजत्' आत्मा है।

2. आत्मा या ईश्वरका दूसरा परिचय :

एकम् =वह एक है अर्थात् वह अनेक नहीं है, सभी अनेकमें एक[1] है।

व्यष्टिमें प्रतिशरीर भिन्न जीव, और समष्टिमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व आदि विभिन्न इकाइयाँ प्रतीत होनेपर भी ब्रह्मतत्त्वमें भेद नहीं है। इसलिए न साक्षी आत्मामें

---

1. *'तच्चैकं सर्वभूतेषु।' (शांकर-भाष्य)*

भेद है और न जगत्कारण ईश्वरमें भेद। देहभेद या महतत्त्वादिके भेदसे शुद्ध साक्षी-चेतनमें भेद नहीं होता। भेदका व्यावर्त्तन करनेके लिए यहाँ 'एकम्' पद प्रयुक्त है।

देहभेदका अर्थ है आकार-भेद! व्यष्टिमें जो भिन्न-भिन्न शरीर हैं वे भी बने तो पंचतत्त्वोंसे ही हैं, उनमें भेद केवल आकृतिका है। इसी तरह समष्टिमें जो पृथिव्यादि तत्त्वोंका भेद प्रतीत होता है, उनमें वही आत्मा 'एक' है। आत्मामें न तो देह-भेदसे भेद होता है, न व्यवहार-भेदसे और न गुणभेदसे। देहका अर्थ है, देहाकारमें परिणत पंचभूत और तत्त्वका अर्थ है, देहाकारमें अपरिणत पंचभूत। इनके भेदसे आत्मामें भेद नहीं है।

'एकम् 'का अर्थ 'अनेक नहीं' यह तो होता ही है। यह एकम् शब्द अनेकता या भेदका, निवर्तक है। सत्य एक है यह तो ठीक, पर अनेकतासे उसका क्या सम्बन्ध है? ऊपरसे तो विरोधी हैं 'एक' और 'अनेक'। परन्तु ऋग्वेदमें कहा गया है :

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
एकं वा स्तद् विबभूव विश्वम्।

'सत् एक है, परन्तु विद्वान् लोग उसका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं।'

'सत्य एक है, वह विश्वके रूपमें विविध हो रहा है।'

इसीको वेदान्तमें 'विवर्त' कहते हैं। वस्तु एक, पर उसकी विधाएँ या प्रकार अनेक! इसमें अनेकता कल्पित और औपाधिक है और एकता है सत्य। अनेक दीखनेपर भी वस्तुकी एकता खण्डित नहीं होती। जैसे सर्प या माला दीखनेपर भी रज्जु न विषैली होती है और न सुगन्धित। अनेकता एकका अतात्त्विक अन्यथा भाव है, वास्तविक अन्यथा भाव नहीं।

कार्य-कारण दृष्टिसे अनेकता कार्य है और उन सबमें जो अपरिणामी एक है वह है कारण। अध्यस्त-अधिष्ठानकी दृष्टिसे अनेकता अध्यस्त है और 'एक' उसका अधिष्ठान है। द्रष्टा-दृश्यकी दृष्टिसे अनेकता दृश्य है और उसका द्रष्टा एक है। सत्यासत्यकी दृष्टिसे एकता सत्य है और अनेकता असत् अथवा मिथ्या। एकमें ही अनेकता मिथ्या भास रही है।

'एक' और 'अद्वितीय'में अन्तर होता है। छान्दोग्यकी श्रुति एक साथ एक ही मन्त्रमें दोनों शब्दोंका प्रयोग करती है : **एकमेवाद्वितीयम्।** 'सत्' केवल एक और अद्वितीय है। अनेक कार्योंकी दृष्टिसे जो उनमें अन्वित 'एक' सत् है वही तत्त्व या उसके स्वरूपकी दृष्टिसे अच्युत, अद्वितीय है। सत् अनेक रूपोंमें प्रतीत होता हुआ भी 'एक', अविभाज्य और 'अद्वितीय' है।

'एक'को परिच्छिन्नता उसे दूना, तिगुना, चौगुना या अनेक गुना बना देती है। इसी प्रकार 'एक'का विभाजन भी हो जाता है जैसे $^1/_2$, $^1/_3$, $^1/_4$.... किन्तु अद्वितीय' पदार्थ न गुणित होता है, और न विभाज्य, क्योंकि वह अपरिच्छिन्न सत् है। 'एक' कारण है जो फैलता और सिकुड़ता है। लेकिन 'अद्वितीय' न कार्य है न कारण। वह न फैलता है और न सिकुड़ता। अद्वितीय सत् 'एक' और 'अनेक' सर्वका अधिष्ठान है। 'एक' आपेक्षिक सत्य है तो 'अद्वितीय' परमार्थ सत्य।

अतः श्रुति जब आत्माको 'एकमेवाद्वितीयम्' बताती है तो उसका अभिप्राय यही है कि आत्मा साक्षीरूपमें और 'अनेक'के कारण रूपमें (ईश्वररूपमें) 'एक' है; किन्तु सर्वाधिष्ठानरूपमें वह 'अद्वितीय' ब्रह्म ही है। प्रस्तुत मन्त्रके 'एकम्' पदका लक्ष्यार्थ 'अद्वितीयम्' है, यद्यपि उसका वाच्यार्थ 'एकम्' है। 'अनेजत्'

(अपरिणामी, निर्विकार) तथा 'एकम्' (एक), इन दोनोंके मिलाने पर 'अनेजदेकम्'का लक्ष्य 'एकमेवाद्वितीयम्' सत् ही रह जाता है।

3. आत्मा या ईश्वरका तीसरा परिचय :

मनसो जवीयो=मनसः जवीयः=मनसे भी अधिक वेगवान् अथवा जहाँ मन पहुँचता है, उससे परे अर्थात् मनका अविषय। प्रत्यक्रूपसे भी आत्मा मनका विषय नहीं और न सर्वव्यापीरूपसे।

जो मनमें आता है, मन जहाँ जाता है, वह सब परमात्मा नहीं है, वैसा परमात्मा नहीं है। उस, वहाँ, तबका जो साक्षी है वह परमात्मा है। साक्षी पहले होता है और साक्ष्य पीछे। इसलिए परमात्मा मनसे भी तीव्र वेगवाला, मनका अविषय है।

मनके संकल्प-विकल्पोंका जो अधिष्ठान है, जिसमें मन स्फुरित होता है, वह चिदधिष्ठान 'ईश्वर' भी मनका अविषय है। मनका अधिष्ठान (उपादान) ईश्वर है और ईश्वरमें मन स्फुरित होता है, इसलिए अध्यस्त 'मन' मिथ्या है।

निष्कर्ष यह कि चेतन ब्रह्म हर दशामें मनका अविषय है। सत्य मनःकल्पित नहीं होता। मनमें आती-जाती हजार-हजार कल्पनाओंका जो साक्षी है, जो उपादान एवं अधिष्ठान है, वही एक सत्य है। वही आत्मा है।

मन प्रत्येक विषयका पृथक्-पृथक् स्पर्श करता चलता है, जैसे कोई एक-एक सीढ़ीपर पैर रखता हुआ ऊपर चढ़ता है। किन्तु आत्मा तो व्यापक है, वह सर्वत्र पहलेसे ही उपस्थित है।

मन संकल्प-विकल्पके रूपमें एक-एक बातको विषय बनाता है। प्रिय-अप्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको तथा समाधिमें इनके अभावको ग्रहण करता है। लेकिन जैसे नेत्र अत्यन्त

सन्निहितका ग्रहण नहीं करते, वैसे मन भी अत्यन्त सन्निहितका ग्रहण नहीं कर पाता। यही कारण है कि मनका जो अधिष्ठान और प्रकाशक है, उस आत्माका ग्रहण भी मन द्वारा नहीं होता।

यद्यपि परमात्मा मनका साक्षी और मनका अधिष्ठान होनेसे मनका अविषय है, तथापि सभीने उसके विषयमें कुछ-न-कुछ मनोराज्य किया ही है। उसका रहस्य यही है कि अपने-अपने सम्प्रदायकी परम्पराके अनुरूप एवं शिष्यों तथा श्रोताओंकी योग्यताके अनुसार आचार्योंने परमात्माके विषयमें शाखा-चन्द्र-न्यायका आश्रय लेकर परमात्माका वर्णन किया है। यथार्थ वर्णनका साहस जब करने चले तो निषेधकी भाषा **नेति-नेति**का ही आश्रय लेना पड़ा। एक बार सम्पूर्ण अनात्मक पदार्थोंमें-से आत्मबुद्धिका निषेध कर देनेपर निषेधावधिके रूपमें केवल सच्चिदानन्द, अद्वय परमात्मा ही शेष रहा जाता है। उसके पश्चात् तो सृष्टिका काया-कल्प ही हो जाता है। फिर कोई भी वस्तु उस आत्माके अतिरिक्त अनुभवमें नहीं आती। ईश्वर आत्माके सम्बन्धमें संसारके समस्त परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोंका यथार्थ समन्वय तभी होता है, क्योंकि सत्य 'मनसो जवीयः-मनका अविषय है।

वास्तवमें, आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। जब वह एक विषयकी कल्पनासे युक्त होता है, तब उस ज्ञानस्वरूप आत्माका नाम ही 'मन' हो जाता है। जब वह अलग-अलग अनेक विषयोंको देखने लगता है तो उस ज्ञानस्वरूप आत्माका नाम 'इन्द्रियाँ' हो जाता है। वही जब दीखनेवाली वस्तुको 'मैं' मानने लगता है, तो उस आत्माका नाम 'देह' हो जाता है। यथार्थतः मन, इन्द्रिय, देह सब चेतन आत्मदेवके ही भास हैं, स्वयं आत्मदेव ही है :

आत्मा हि एवेदं सर्वम्। ब्रह्म हि एवेदं सर्वम्।

इसी दृष्टिसे आत्माको मनसे तीव्र वेगवाला कहा गया है; क्योंकि मनका उपादान एवं अधिष्ठान होनेसे मन जब जहाँ जाता है, बनता है, तब, वहाँ, उसीके रूपमें आत्मा पहलेसे ही वर्तमान रहता है! (इसी मन्त्रमें **पूर्वमर्षत्**से यही बात कही गयी है।)

यहाँ यह शंका होती है कि पहले तो श्रुतिने आत्माको 'अनेजत्' कहकर बताया कि आत्मा चलता नहीं। अब 'मनसा जवीयो' कहकर उसे मनसे भी तीव्र वेगवाला बताया जा रहा है। इस विरोधका क्या समाधान है?

समाधान यह है कि उपाधिभेदसे यह विरुद्ध-सा कथन भी सम्भव है। जैसे घटाकाश घटकी उपाधिसे चलता जान पड़ता है, वस्तुतः वह महाकाश ही है, उसमें गति नहीं है, इसी प्रकार निरुपाधिक आत्मा तो 'अनेजत् ' है (चलता नहीं), किन्तु मनकी उपाधिके कारण 'जवीयः' (वेगवान्) जान पड़ता है।

4. आत्मा या ईश्वरका चौथा परिचय :

नैनद्देवा आप्नुवत् पूर्वमर्षत् =इस आत्माको देवता भी प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि वह उन सबसे पहले ही है।

द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि (शांकर-भाष्य)

विषयोंका द्योतन अर्थात् प्रकाश करनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही 'देव' हैं।' यह व्यष्टिमें आध्यात्मिक दृष्टि है। वास्तवमें प्रकाश करनेके कारण इनमें देवत्व आरोपित किया जाता है। प्रकाशनकी सामर्थ्य एकमात्र चेतन आत्मामें है। उपाधिगत विशेषताके कारण चेतनके विशिष्ट आभासोंको ही तत्तद्-विशेषतासे युक्त 'देवता'का नाम दिया जाता है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् (अध्याय 3 ब्राह्मण 9)में विदग्ध-शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे पूछा : देवता कितने हैं?

याज्ञवल्क्य : तीन सौ और तीन, तथा तीन हजार और तीन।

शाकल्य : ठीक, किन्तु उनमें वास्तवमें कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : तैंतीस।

शाकल्य : किन्तु उनमें भी वास्तवमें कितने हैं?

याज्ञवल्क्य : छः।

शाकल्य : उनमें भी वास्तवमें कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : तीन।

शाकल्य : उनमें भी वास्तवमें कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : दो।

शाकल्य : उनमें भी वास्तवमें कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : डेढ़।

शाकल्य : उसमें भी वास्तवमें कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : एक।

बादमें शाकल्यके पूछनेपर याज्ञवल्क्यने बताया कि वास्तवमें देवता तैंतीस हैं–आठ वसु,[1] ग्यारह रुद्र,[2] बारह आदित्य,[3] इन्द्र[4] और प्रजापति[5]। 303 या 3003 जिन देवताओंकी स्तुतियाँ 'निविद'में है, वे इन्हीं तैंतीसकी विविध शक्तियाँ या महिमा हैं।

छः देवताओंके नाम हैं : अग्नि, पृथिवी, वायु, आकाश, आदित्य और द्यौः। समस्त संसार ये छः ही हैं।[6]

---

1. अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र–ये आठ वसु हैं। इन्हींमें सब–यह सब जगत् निहित है, इसीसे वे वसु कहलाते हैं। (बृहदा. 3.9.3)

2. पुरुषमें दश इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन–ये एकादश रुद्र हैं। मरणकालमें इनके उत्क्रमण होनेपर लोग रोते हैं इसलिए इन्हें 'रुद्र' कहते हैं। (बृहदा. 3.9.4)

3. संवत्सरके बारह मासरूप कालके अवयव ही द्वादश आदित्य हैं, क्योंकि ये सबका ग्रहण (आदान) करते हुए चलते हैं। इसलिए इन्हें 'आदित्य' कहते हैं। (बृहदा. 3.9.5)

4-5. वीर्य, बल, इन्द्र है और यज्ञ तथा यज्ञके साधन पशु प्रजापति हैं। (बृहदा. 3.9.6)

6. ये छः प्रधान वसु ही तैंतीस देवताओंके रूपमें विस्तारको प्राप्त होते हैं। (बृहदा. 3.9.7)

तीन देवताओंके नाम हैं : पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गलोक। इन तीनों लोकोंमें ही सारे देवताओंका निवास है।[1]

दो देवता हैं : अन्न (द्रव्य) एवं प्राण।[2]

डेढ़ देवता कौन-से हैं? वह पवन जो यहाँ बहता है। उसके बहनेपर ही सम्पूर्ण संसार ऋद्धिको प्राप्त हुआ, इसलिए कार्यकारण मिलाकर कुछ लोग पवनको डेढ़ देवता कहते हैं।[3]

एक देवता हैं : प्राण।[4] उसको ही 'त्यत्'[5] कहते हैं। वह ब्रह्म है।

भगवान् शंकराचार्यके अनुसार इस आख्यायिकामें देवताओंका एकत्व और नानात्वका आधार उपाधिभेद तथा उपासनाका अधिकार-भेद है। एक प्राण-ब्रह्मका ही अवान्तर संख्याके रूपमें विस्तार हुआ है। इस प्रकार एक, अनन्त तथा अवान्तर संख्याओंसे विशिष्ट एक प्राण ही है। वहाँ अधिकारभेदसे एक ही देवके नाम रूप, कर्म, गुण और शक्तिका भेद है।[6]

तो, श्रुति जब कहती है कि 'नैनद्देवा आप्नुवन्' (इस आत्माको कोई देवता प्राप्त नहीं कर सकता) तो साथ ही उसका कारण भी बताती है : 'पूर्वमर्षत्'। अर्थात् आत्मा तो इन देवोंसे पहले ही उनके

---

1. पृथिवी+अग्नि=भूलोक; वायु+अन्तरिक्ष=भूवर्लोक या अन्तरिक्ष; आदित्य+द्युलोक=स्वर्गलोक। (बृहदा. भाष्य 3.9.8)

2. यहाँ 'अन्न'से तात्पर्य 'द्रव्य'से है और 'प्राण'से तात्पर्य जड़ क्रिया-शक्तिसे है।

3. पवनको जड़ क्रिया-शक्तिका प्रतीक मानकर उसे 'अध्यर्ध' देव (डेढ़ देव) कहा गया है। जड़ क्रिया-शक्ति अपने कार्यों द्वारा ही प्रकट होती है। अतः कार्यसहित कारण क्रियाशक्तिको डेढ़ देवता कहा गया है। (बृहदा. 3.9.8-9)

4-5. यहाँ 'प्राण' सच्चिदानन्द ब्रह्मका वाचक है। सर्वदेवरूप होनेके कारण वह महद् ब्रह्म है, इसीलिए उसका परोक्षवाचक नाम 'त्यत्' (या 'तत्') कहा गया है।

6. 'एकश्चानन्तश्च अवान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव। तत्र च देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकारभेदात्।' (बृहदा०, शांकर भाष्य 3.9.9)

उपादान तथा अधिष्ठानके रूपमें आकाशवत् व्यापकरूपमें उपस्थित रहता है। अतः जहाँ आत्मा मनका अविषय है, वहीं वह इन्द्रियोंका भी अविषय है और इसीलिए मनसहित सभी इन्द्रियोंका अविषय है। इसी प्रकार 'तत्–पदार्थ' ईश्वर भी मनसहित इन्द्रियोंका अविषय है। वह इन तैंतीस या अनन्त देवताओंका उपादान होता हुआ इनकी व्यक्तिगत पहुँचसे परे है।

मूल बात यह है कि यद्यपि मन, इन्द्रिय और सभी देवता उपादानतः ब्रह्म हैं, किन्तु जब वे अपनेको ब्रह्मतत्त्वसे भिन्न मानकर ब्रह्मको पकड़ने चलती हैं तो उसे पकड़नेमें असमर्थ रहती हैं। वास्तवमें, सर्वरूप ब्रह्ममें प्राप्तकर्ताकी आत्मिक ब्रह्मताकी ज्ञातता उत्पन्न होना ही ब्रह्मको प्राप्त करना है और अज्ञानता ही उसकी अप्राप्ति है। यह ज्ञातता बुद्ध्युपाधिक चेतनको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य बुद्धि द्वारा ही सम्पन्न होती है।

मनसो जवीयःसे कहा गया कि परमात्मा मनका विषय नहीं। **नैनद्देवा आप्नुवन्** से कहा गया कि परमात्मा इन्द्रियोंका भी विषय नहीं। आत्मा अलग–अलग मन और इन्द्रियोंका विषय नहीं है और मनसहित इन्द्रियोंका भी विषय नहीं, यह बात दोनोंको मिलाकर निकलती है; क्योंकि दोनोंमें हेतु एक ही है कि 'पूर्वमर्षत्' अर्थात् जहाँसे मन और इन्द्रियाँ उठती हैं, जहाँ पैदा होकर स्थित रहती हैं और जहाँ–जहाँ ये पहुँचती हैं अर्थात् जिन–जिन आकारोंका ग्रहण करती हैं, वहाँ सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान एवं सर्वोपादानरूप परमात्मा पहलेसे ही विद्यमान है।

इन्द्रका अर्थ है कर्म, कर्मराशि और कर्मका देवता। कर्म द्वारा ही हमें इन इन्द्रियोंकी प्राप्ति होती है। किसी जीवके एक इन्द्रिय होती है तो किसीको दो या तीन या चार या पाँच या दश। किसीको

आन्तरिक इन्द्रियोंका विकास भी होता है, ऐसा वर्णन भागवतमें है। उसको 'अन्तःस्पर्श' कहते हैं। इस प्रकार इन्द्र द्वारा (कर्म, अभ्यास या अवधानके द्वारा) इनका विकास हुआ है, इसलिए इनको 'इन्द्रिय' कहा जाता है।[1]

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ही पूर्णतः प्रकाशित नहीं कर पातीं। जैसे आँख इन्फ्रारेड, अल्ट्रावायलेट या एक्सरेजको ही नहीं देख पातीं। कान अत्यन्त तीव्र तथा अत्यन्त मन्दवाली ध्वनियोंको नहीं सुन पाते। कान रूप भी नहीं देख सकता, और आँख शब्द नहीं सुन सकती। तब अपूर्ण करण एक सर्वविधपूर्ण चित्-तत्त्वको कैसे ग्रहण कर सकते हैं? इन्द्रियोंसे तीव्र वेगवान् तो मन ही है। जब आत्मा मनसे भी तीव्र है तब इन्द्रियोंसे तीव्र तो होगा ही। सुतराम, आत्मा मन, इन्द्रियाँ और उनके संघातका अविषय है। इसी प्रकार ईश्वर भी सब देवताओंकी पहुँचसे परे है; क्योंकि सब देवोंका परमदेव तो वह स्वयं ही है। जब आत्माकी ब्रह्मरूपताका बोध हो जाता है तब आत्मा और ईश्वरके तत्त्वतः एकत्व-बोधसे सम्पन्न श्रुतिके चार लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं :

(1) स्वरूपसे आत्मतत्त्व अपरिणामी, निर्विकार एवं अचल है। ('अनेजत्')

(2) आत्मा अद्वितीय है। कोई भी प्रत्यक्ष, परोक्ष या अपरोक्ष वस्तु उससे भिन्न नहीं है। ('एकम्')

(3) आत्मा मन और मनके संकल्प-विकल्पोंका साक्षी है। मन स्वयं आत्माका विवर्त है। ('मनसो जवीयः')

(4) मन और इन्द्रियोंसे गृहीत किसी ज्ञानपुञ्जका नाम 'आत्मा' नहीं। इनके प्रकाशक, उपादान एवं अधिष्ठान चेतनका नाम 'आत्मा' है।

---

1. *'इन्द्रसृष्टं इन्द्रदत्तं इन्द्रजुष्टम्', यह सूत्र ही है।*

व्यष्टिमें जो 'आत्मा' नामक तत्त्व है वही समष्टिकी दृष्टिसे 'ईश्वर' कहलाता है। इसलिए आत्मा ब्रह्म है। इसी लक्ष्यको लेकर अब मन्त्रका दूसरा चरण लेते हैं :

तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।

अब 'पूर्वमर्षत्'को आत्माका स्वतन्त्र परिचय मानकर पुनः विचार किया जाता है-

5. आत्मा, ईश्वरका पाँचवाँ परिचय : 'पूर्वमर्षत्'

'ऋष् हिंसायाम्' इस धातुसे 'ऋषत्' शब्द बनता है और उससे निषेधार्थमें अ+ऋषत् =अऋषत् बनता है। यह अऋषत् ही अर्षत् है। इसलिए 'अर्षत्'का अर्थ है 'अहिंसत्'=हिंसा न करता हुआ।

ये स्वयंप्रकाश 'आत्मदेव' अपनेमें प्रतीयमान किसी भी नामरूप भावकी हिंसा नहीं करते, इनको नित्य प्रकाशते रहते हैं। जैसे अन्धकारमें पड़ी रज्जु उसमें प्रतीत होनेवाले सर्प, माला, भू-छिद्र आदिकी हिंसा न कर द्रष्टाकी भावनाको प्रकाशित करती है, ठीक वैसे ही यह आत्मा वासना-भावसे अलिप्त नेत्रोंसे जो जैसा देखना चाहे, उसकी उस भावनाकी हिंसा न करते हुए, उसमें कोई व्याघात न डालते हुए उसे प्रकाशित करता है। इस आत्माको ही नेत्र आकारके रूपमें, नासिका गंधके रूपमें, श्रोत्र शब्दके रूपमें, त्वक् स्पर्शके रूपमें जिह्वा रसके रूपमें ग्रहण करती हैं और इसमें आत्मा सबको प्रकाशित करता है।

यह सबको प्रकाशित करता है किन्तु व्यष्टिमें मन और इन्द्रियाँ तथा समष्टिमें इनके अधिष्ठातृ देवता-सूर्य, चन्द्र, अश्विनीकुमार, वरुण, रुद्र आदि इसे नहीं पा सकते। सम्पूर्ण

अधिदैव तथा अध्यात्म इस आत्मातक पहुँच नहीं सकता और यह सबको प्रकाशित करता है।[1]

6. आत्माका छठा परिचय : तद् धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत् अर्थात् वह स्वयं स्थिर रहकर अन्य दौड़नेवालोंका अतिक्रमण कर जाता है।

अन्यान् अर्थात् 'विषयान्'। आत्मा न विषय है, न विषयी। विषयका साक्षी और विषय-गन्धशून्य विषयी अर्थात् विषयीका पारमार्थिक स्वरूप आत्मा है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा है। वह अन्यका प्रकाशक है, अन्यका अधिष्ठान है।

'अन्य' गतिशील है : **धावतः** और आत्मा स्थिर है : **तिष्ठत्**। यहाँ 'तिष्ठत्'का अर्थ 'अनेजत्'से भिन्न होना चाहिए। 'अनेजत्'में कालगत चाञ्चल्यका निषेध है तो 'तिष्ठत्'में देशगत चाञ्चल्यका।

हमारी पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा कर रही है, चन्द्रमा पृथिवीकी परिक्रमा करता है, सूर्य महासूर्यकी परिक्रमा करता है। अनेकानेक महासूर्य जिसमें है, वह ब्रह्माण्ड भी गतिशील है। सभी ब्रह्माण्ड हिरण्यगर्भके संकल्पमें है। संकल्प स्वयं चञ्चल है। ब्रह्माकी भी आयु दो परार्धमात्र है और उसे भी कालका भय है। उनके संकल्पमें स्थित सभी दौड़ रहे हैं। आकर्षण-विकर्षणकी शक्तिसे आबद्ध कण-कण घूम रहा है। एक धूलिकणसे लेकर सृष्टिकर्तातक सब दौड़ रहे हैं। आत्मा या ईश्वर वह है जिसमें ये सब दौड़ रहे हैं। आत्माके प्रकाशमें ही इनकी गतिशीलता है और वही इनका अधिष्ठान भी है।

दिक्, काल या विषयके रूपमें जो कुछ भी है या भासता है;

---

1. *'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।'*

(कठो. 2.1)

'सृष्टिकर्ताने मन-इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया है, अतः ये बाह्य विषयोंका ही ग्रहण करती हैं, अन्तरात्माका नहीं।'

उसकी उत्पत्ति, स्थिति, गति या प्रलय जो कुछ भी है या भासता है; वह सब 'अन्यान्' है, और आत्मा उनका अधिष्ठान एवं प्रकाशक होनेसे ही उन सबका अतिक्रमण कर जाता है; क्योंकि वह सबसे पहले ही है : **पूर्वमर्षत्।**

आत्मा स्वयं दौड़कर अन्य दौड़नेवालोंका अतिक्रमण नहीं करता। वह जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों, स्थिर रहता हुआ ही उन सबका अतिक्रमण करता है : **तिष्ठत्** । आत्मा सबसे असंस्पृष्ट है, सर्वावभासक है और सर्वाधिष्ठान है। जहाँसे जहाँको जहाँ होकर जाओ वहाँ-वहाँ सर्वत्र आत्मा है। जब-तब, सब कालमें आत्मा है। वास्तवमें आत्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं।

7. आत्मा ईश्वरका सातवाँ परिचय : तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। अर्थात् उस आत्मतत्त्वमें ही सूत्रात्मा अथवा हिरण्यगर्भ कारणवारिका आधान करता है। अर्थात् आत्मा सृष्टिकी कार्यकारण प्रक्रियाका अधिष्ठान है।

यहाँ दो बातें बतायी जा रही हैं : (1) सृष्टिका निमित्तकारण 'मातरिश्वा' अर्थात् हिरण्यगर्भ है और उपादान कारण 'अपः' है। (2) निमित्त और उपादान, दोनों कारण सृष्टिके ब्रह्मतत्त्वमें अध्यस्त हैं। इनमें 'मातरिश्वा'से सृष्टि होनेकी प्रक्रियाका उद्घाटन गौण है, और सृष्टि-प्रक्रियाका ब्रह्ममें अध्यस्त होना मुख्य है।

जब हम पहले भासमान सृष्टिकी सत्यताको स्वीकार कर लेते हैं और उसमें व्यष्टित्व तथा प्रतीत होनेवाली विविध कार्यकारण प्रक्रियाओंकी सत्यताको स्वीकार कर लेते हैं तब उसी अनुमानके आधारपर समूची सृष्टिकी मूल कार्य-कारण प्रक्रियाके बारेमें अनुमान करते हैं। किन्तु यह भूल जाते हैं कि मनुष्यकी बुद्धि, जो स्वयं एक कार्य है और स्वयं काल जिसका एक उपकार्य है, अनादि

भूतमें जाग्रत् रूपसे प्रवेश नहीं कर सकती। अतः सभी वैदिक कार्य-कारण प्रक्रियाएँ आनुमानिक हैं और उनका उद्देश्य सृष्टि सम्बन्धी ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कराना है।

वेदान्तका सिद्धान्त है कि वस्तुका 'मालूम पड़ना' और 'उत्पन्न होना' एक ही है। जब, जहाँ, जो वस्तु मालूम पड़ती है तभी, वहाँ वह वस्तु उत्पन्न होती है। प्रतीति समकाल ही सृष्टि है, उसके आगे-पीछे सृष्टि नहीं। सम्पूर्ण सृष्टि आपको कहाँ अनुभूत होती है? आपके अन्तःकरणमें। इसलिए सृष्टि कहाँ पैदा होती है? जहाँ आपका मन पैदा होता है, जहाँ आपकी वृत्ति पैदा होती है। सृष्टि कबसे होती है, कहाँसे होती है, किस रूपमें होती है, इसे आप स्वयं देखते हैं। सृष्टिकी आदि भी आप हैं, अनादि भी और आपमें ही सृष्टि समाप्त भी हो जाती है। अतः आप सृष्टिके अधिष्ठान स्वयंप्रकाश ब्रह्म हैं।

सृष्टि अनुभव है, आप आत्मा, ज्ञान हो। ज्ञान कल्पित नहीं, अनुभव कल्पित होता है। अनुभव ज्ञानमें मिथ्या भासमान है। ज्ञान ही सोपाधिक होकर अनुभवके रूपमें, सृष्टिके रूपमें, चमकता है।

सृष्टि मनमें चमकती है और मनका आत्मामें उदय-अस्त होता है। न आत्मा व्यष्टि है और न मन व्यष्टि। व्यष्टित्व मनमें स्फुरित होता है प्राक् संस्कारोंके कारण। संस्कार-विशिष्ट मन व्यष्टि है और संस्कार-निरपेक्ष मन आत्मासे अभिन्न है।

प्रति-शरीरमें जैसे पञ्चभूत अनेक नहीं। केवल उनकी आकृति अनेक हैं, वैसे ही प्रति-शरीरके मन अनेक नहीं, केवल संस्कार अनेक हैं। आकृति और संस्कारोंमें कार्य-कारण-सम्बन्ध है और दोनों मनमें प्रतिबिम्बित होते हैं।

मनस्तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टिमें एक है और उससे उपहित चैतन्यका नाम 'सूत्रात्मा' या 'हिरण्यगर्भ' होता है। उसीको यहाँ 'मातरिश्वा' कहा है।

'मातरिश्वा'का अर्थ है सूत्रात्मा, जिसमें अनादि जीवसमुदाय (संस्कारविशिष्ट मन, व्यष्टियाँ) सोते हैं : **मातरि श्वयति इति मातरिश्वा।** किसमें सोते हैं? तो कहा गया कि 'मातरि अर्थात् मातामें। 'माता प्रमाताका ही दूसरा नाम है। आत्मा ही अविद्यासे प्रमाता बनता है।

जैसे सूत्रमें मणियाँ गुँथी हैं, वैसे ही अनन्तकोटि जीवोंके अन्तःकरण जिसमें ग्रथित हैं; अथवा जैसे वस्त्रमें सूत व्याप्त है, वैसे ही जो समस्त प्रतीयमान सृष्टिके भाव और अभावमें व्याप्त है; वह सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ कहलाता है। सृष्टिकालमें उसीसे अपने-अपने कर्मसंस्कारवश अनन्तकोटि जीव प्रकट होकर अपने संस्कारोंके अनुसार देह ग्रहण करते तथा चेष्टा करते हैं; और प्रलयकाल उपस्थित होनेपर अपने-अपने अन्तःकरणमें समस्त संस्कारोंको समेटकर उसीमें प्रसुप्त हो जाते हैं। सृष्टिके इसी मूलभूत कारणको, सूत्रात्माको, यहाँ **मातरिश्वा** कहा गया है।[1] और सृष्टिकी इसी उत्पत्ति प्रक्रियाको यहाँ **अमो दधाति** कहकर संकेत किया है।

कर्मसंस्कार तथा अभिमान सहित जो चिदाभास है, उस आभास-समष्टिरूप चिदाभासको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या मातरिश्वा कहते हैं। यह 'मातरिश्वा' कोई व्यष्टि जीव नहीं, उसका समष्टिरूप भी व्यष्टिकी अपेक्षा ही कल्पित है।

जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज, यह परम्परा अनादि एवं प्रवाहरूपसे नित्य है; वैसे ही संस्कारोंसे देह, देहसे कर्म, कर्मसे वासना और वासनासे पुनः देह, यह सृष्टिक्रम भी अनादि है। न तो सम्पूर्ण सृष्टिका प्रारम्भ माना जाता है और न अन्त ही। प्रपञ्च अनादि एवं प्रवाहरूपसे नित्य है।

---

1. 'मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत् सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा।' (शांकरभाष्य)

किन्तु जैसे जिस बीजको जला दिया गया, उसकी आगेकी सृष्टि-परम्परा समाप्त हो जाती है, वैसे ही जिस अन्तःकरणमें ब्रह्माकार-वृत्तिका उदय हो गया उस अन्तःकरणकी पुनर्जन्म-परम्परा समाप्त हो जाती है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो ज्ञानका कोई प्रयोजन ही सिद्ध न होगा। फिर या तो कोई मुक्त ही नहीं होगा या मृत्युके पश्चात् सभी मुक्त हो जायँगे। यह शास्त्र एवं युक्तिके सर्वथा विपरीत है। अतः जिस अन्तःकरणमें आत्माकार-वृत्तिका उदय होता है वही जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त होता है, यही मानना पड़ेगा।

ब्रह्मचर्य द्वारा सन्तान-परम्परा उत्पन्न न कर एक परम्परा-सृजनसे छुटकारा मिलता है, किन्तु यह वास्तविक छुटकारा नहीं, कारण मनुष्य सन्तान भले ही उत्पन्न न करे, उसके स्वेद, मल, मूत्रसे असंख्य जीव उत्पन्न होते ही हैं और उनकी अपनी सन्तान-परम्परा चलती ही है। शरीरमें ही कोटि-कोटि कीटाणु प्रत्येक रक्तकणमें हैं ही। अतः इस प्रकार परम्परासे छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। पुनर्जन्मकी परम्परा तो सर्वावभासक अपने अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूपको जानकर ही समाप्त होती है; क्योंकि यह अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य प्रपञ्च अविद्या-कल्पित ही है। कल्पितकी अनादिता और नित्यता भी कल्पित होती है। अतः आत्माकी ब्रह्मताका ज्ञान होनेपर कोई बद्ध नहीं रहता।

तस्मिन् अर्थात् उसी परमात्मामें (जिसे 'अनेजदेकं मनसो जवीयो, नैनद्देवा आप्नुवत् पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्' कहा गया) मातरिश्वा अर्थात् सूत्रात; **अपो दधाति** अर्थात् वीर्यका-कारणवारिका[1] आधान करता है।

---

1. संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं और जितनी व्यष्टियाँ प्राणियोंकी हैं उन सबके गुण, धर्म और स्वभाव, सबका बीज यहाँ 'अपः' पदसे बोधित है। उन सबका आधान सृष्टि-विधाता 'मातरिश्वा' परमात्मामें करता है।

यहाँ आत्माको पृथिवीस्थानीय, मातरिश्वाको कृषकस्थानीय, अपःको बीजस्थानीय एवं प्रकट सृष्टिको वृक्षस्थानीय समझना चाहिए। इस प्रकार सृष्टिका निमित्त कारण समष्टि बीजविशिष्ट चेतन 'मातरिश्वा' है और उपादान कारण सबीज पृथिवी अर्थात् अविद्या अथवा कर्मसंस्कार-वासित आत्मचैतन्य है। जब हम चैतन्यको विशुद्धरूपमें जान लेते हैं अर्थात् 'मैं आत्म कर्म-वासना-संस्कार-विनिर्मुक्त, व्यष्टि-समष्टि-भेद विनिर्मुक्त, अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म हूँ', ऐसा जान लेते हैं तब व्यष्टि मैं-की आगामी सन्तान-परम्परा समाप्त हो जाती है और जीव सूत्रात्माके शासनसे भी मुक्त हो जाता है।

आत्मा वह स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान है जिसमें सृष्टिकी समस्त कार्य-कारणपरम्परा, शासक-शास्त्रपरम्परा चलती है और जिसके ज्ञानमात्रसे ही ज्ञाता इन परम्पराओंका मिथ्यात्व अनुभव करके इनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

इस प्रसंगमें द्रष्टव्य यह है कि श्रुति एक ओर 'तस्मिन्'-वाच्य निरुपाधिक आत्मचैतन्यका और 'मातरिश्वा'-पदवाच्य सूत्रात्माका अभेद स्थापित करती है (मुख्य समानाधिकरण्यकी प्रक्रियासे); तो दूसरी ओर 'तस्मिन्'-पदवाच्य निरुपाधिक आत्मचैतन्यका और 'अपो दधाति' क्रियाके फलस्वरूप इस जड़-चेतनात्मक सृष्टिका अभेद स्थापित करती है (बाधसमानाधिकरण्यकी प्रक्रियासे)। मानो श्रुति यह कहना चाहती है कि आत्मा वह चैतन्य है, जिसमें नियन्ता-नियम्यका अथवा कारण-कार्यका तात्त्विक भेद नहीं है। इसी बातको पाँचवाँ मन्त्र और स्पष्ट करता है।

●

पञ्चम मन्त्र

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥5॥

तत् =वह आत्मा (ईश्वर); **एजति**=चलता भी है; **तत् न एजति**=(और) वह आत्मा चलता भी नहीं है। **तत् दूरे**=वह दूर भी है; **तत् उ अन्तिके**=(और) वह अत्यन्त पास भी है। **तत् अस्य सर्वस्य अन्तः**=वह इस सम्पूर्ण जगत्के भीतर भी है; **तत् अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः**=(और) वही इस सबके बाहर भी है॥5॥

श्रुतिने आदेश दिया था कि सृष्टिमें सब कुछ ईश्वरसे ढँक देने योग्य है; क्योंकि सभी कुछ ईश्वरसे आच्छादित ही है। इसीलिए भोगमें त्याग और लोभका बहिष्कार स्वाभाविक है। तथापि अकर्म एवं कर्त्तव्य-त्यागका आदेश श्रुतिको अभीष्ट नहीं है। जो लोग इस प्रकारका समन्वित जीवन नहीं जीते उन्हें श्रुतिने 'आत्मघाती' बताया है। उस ईश्वरका क्या स्वरूप है जिससे सृष्टि आच्छादित है? तो चौथे मन्त्रमें उसका सर्वाधिष्ठानत्व-स्वरूपका प्रतिपादन किया गया। वह परमात्मा उत्पत्ति, स्थिति, गति और प्रलयका अधिष्ठान है, अतएव-स्वयं अनुत्पन्न, सर्वदा सर्वत्र विद्यमान, निश्चल, अविनाशी एवं सत्तात्मक है। उसी परमात्मामें सृष्टिकर्ता 'मातरिश्वा' प्राणियोंका बीज-कर्म-विभाग करता है।

इसपर प्रश्न उठता है कि फिर यह देश-काल-द्रव्यरूप जगत् और उसका व्यापार तथा इसका नियन्ता (मातरिश्वा), ये सब क्या हैं? यदि ये अतत्त्व हैं तो क्या तत्त्व इनसे परिच्छिन्न हो जाता है? और यदि ये तत्त्वाभिन्न हैं तो इनकी व्यावहारिक संगति क्या है? इन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रुति पाँचवें मन्त्रमें बताती है कि ईश्वर-तत्त्व

देश, काल, द्रव्य, कार्य, उपाधि, निरुपाधि किसीसे भी परिच्छिन्न नहीं होता या नहीं हो सकता। क्योंकि तत्त्वका स्वरूप ही असंग, अद्वितीय एवं सर्वात्मक है। गति-अगति, सृष्टि-प्रलय, नियामक-नियम्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति, भोग-त्याग आदि सभी द्वन्द्वोंका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होनेसे तथा स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान होनेसे वह ईश्वरतत्त्व ही सब कुछ है और वास्तवमें कुछ नहीं हैं, क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरेकी सत्ता ही नहीं है। छठे, सातवें और आठवें मन्त्रोंमें भी इसी ज्ञान-दृष्टि और उसकी महिमाका वर्णन है। इसके उपरान्त नवें मन्त्रसे लेकर अन्तिम मन्त्रतक सृष्टिकी व्यावहारिक संगतिका दिग्दर्शन कराया गया है। वहाँ देश-काल-द्रव्यरूप सृष्टिमें कर्म एवं उसके नियन्ताके प्रति भक्ति, तत्त्वोन्मुख होनेके लिए ईश्वर-प्रार्थना एवं मृत्युके उपरान्त सुगतिके लिए उत्तम संकल्प एवं प्रार्थना आदिका वर्णन है तथा जीवनमें विद्या-अविद्या और कार्यदृष्टिमें समुच्चयकी बात कही गयी है।

वास्तवमें उपनिषद्-ज्ञान जीवनमें समन्वयकी दृष्टि प्रदान करता है, समुच्चयकी नहीं। सम्पूर्ण कार्य-कारण जिस एक तत्त्वमें भासमान है उस प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें सभी कुछ ज्यों-का-त्यों समन्वित है। उसमें कर्म या भाव द्वारा, निरोध द्वारा, ग्रहण द्वारा या त्याग द्वारा, कुछ घटना-बढ़ना नहीं है। उसमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, विद्या-अविद्या, भोग-त्याग, जन्म-मृत्यु, गति-अगति, सुगति, दुर्गति सब अपने-अपने स्थानोंपर ज्यों-के-त्यों रहते हुए उसी आत्मसत्तासे सत्तालाभ करते हुए, दिखते हुए, मिथ्या ही प्रतीत हो रहे हैं। तत्त्वज्ञानी न हटाता है और न सटाता है।

समुच्चय कर्ता-भोक्ताके लिए है; समन्वय तत्त्वज्ञानीके लिए है।

जब सब नामोंमें सब रूपोंमें परमेश्वर-बुद्धि स्फुरित हो और अरूप और अनाममें भी परमेश्वर-बुद्धि स्फुरित हो तब वास्तविक समन्वय होता है। औपाधिक और निरुपाधिक दोनों स्वरूप आत्माके हैं, उनमें उपाधि-निरुपाधिसे कोई श्रेष्ठता, कनिष्ठता नहीं आ जाती। इसलिए वह आत्मा ही देश-काल-वस्तुके रूपमें स्फुरित हो रहा है और नित्य स्वरूपमें इनके बिना भी है-यही बात इस प्रस्तुत मन्त्रमें श्रुति बताने जा रही है।

मन्त्रार्थपर विचार

8. आत्मा : ईश्वरका आठवाँ परिचय : कालसे अपरिच्छिन्नता : तदेजति तन्नैजति। अर्थात् आत्मा चलता भी है और नहीं भी चलता है।

पूर्व मन्त्रमें श्रुतिने कहा है : 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।' उस आत्मामें ही मातरिश्वा (हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा या अन्तरिक्ष-विहारी प्राण) प्राणियोंके चेष्टा-स्वरूप आदिके बीजका आधान करता है। इसमें आधानकी क्रिया तो स्पष्ट ही है। जहाँ क्रिया है वह स्पन्द है ही और जहाँ स्पन्द है वहाँ कम्पन है ही। तो, यह जो मातरिश्वा है वह कम्पन करता है। 'एजु कम्पने' से एजति शब्द बनता है जिसका अर्थ है कम्पित होना। **तत् एजति=**वह आत्मा मातरिश्वाके रूपमें कम्पन करता है। यदि न करे तो 'तत्' भी कैसे रहे? 'तनु विस्तारे' से 'तनोति इति तत्' यह 'तत्' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता कि जिससे यह सृष्टि विस्तारको प्राप्त होती है। इसलिए परमात्माका नाम 'तत्' है। यदि वही विस्तारको प्राप्त हो रहा है इस सृष्टिके रूपमें, तो वह कम्पायमान है ही।

परमेश्वर चलता है, कम्पन करता है, गतिशील है : 'तत् एजति'। और जो मातरिश्वाके रूपमें, जगत्स्रष्टाके रूपमें, अथवा

जगत्‌के जड़-चेतन पदार्थोंकी चेष्टाके रूपमें गति लक्षित होती है वह सर्वगति परमात्माकी ही है, परमात्मासे अभिन्न है।

सृष्टिके अनुकूल शक्तिके अवच्छेदसे परमात्मा काँपता है। भक्तोंपर करुणाके अनुकूल शक्तिके अवच्छेदसे परमात्मा काँपता है। निजजनों जैसे गोपियों आदिके मनोनुकूल उल्लासके अनुकूल शक्तिके अवच्छेदसे परमात्मा काँपता है। जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं-की मोक्षदशाके अनुकूल ज्ञानशक्तिके अवच्छेदसे परमात्मा काँपता है।

वैष्णव लोग या भक्तिरसके रसिक लोग जब अपने हृदयमें श्रीकृष्णकी गोपीमण्डलमें नृत्य करते हुए झाँकी करते हैं तो उन्हें परमेश्वरके 'तदेजति' स्वरूपका साक्षात् अनुभव होता है।

जब जिज्ञासुओंके समक्ष गुरुदेव ब्रह्मात्मैक्य-अनुभव प्रदान करनेवाले सूक्ष्म-से-सूक्ष्म युक्तियों और प्रमाणोंका उद्घाटन करते हैं तो जिज्ञासुओंको गुरुदेवकी वाणी एवं बुद्धिमें परमात्माके थिरकते हुए स्वरूपका साक्षात्कार होता है।

कर्मियोंको इस अतिविचित्र रहस्यमय सृष्टिके रूपमें जगत्स्रष्टाके चल रूपोंका दर्शन होता है।

कर्म, भोग, कर्त्ता, भोक्ता, वाणी, वक्ता, मन, मुनि, बुद्धि, विद्वान्, अवतार और अधिदैव मातरिश्वाके रूपमें, सभी 'तदेजति'-की व्याख्या कर रहे हैं।

ठीक है, परमात्मा गतिशील है। तो एक देशसे दूसरे देशमें जाते होंगे अथवा कालपरिच्छिन्न गति करते होंगे? उत्तर है : नहीं। परमात्मा यदि वस्तुतः परिच्छिन्न पदार्थ होता तब तो देशसे देशान्तरमें अथवा कालसे कालान्तरमें गतिका बोध होता। अतः या तो परमात्माको सर्वदेशमें मानकर समुद्रकी जल-तरंगोंकी तरह समुद्रस्थानीय परमात्मामें गतिकी कल्पना करें या परमात्माको

सर्वकालमें मानकर अपने स्थानपर रहते हुए ही उसमें दीप-शिखाके समान कम्पन-गतिकी कल्पना करें। किन्तु ये दोनों कल्पनाएँ समीचीन नहीं। परमात्माका स्वरूप 'चिद्' है। अतः उसमें संकल्पके रूपमें ही गतिकी कल्पना समीचीन है-फिर वह चाहे देशसे देशान्तरकी हो या कालसे कालान्तरमें हो। गतियाँ सब प्रतीत होती हैं और सब प्रतीतियाँ उनके प्रकाशक अधिष्ठानमें संकल्पित होती हैं। स्वप्नद्रष्टाके स्वप्नमें किस गतिका किसे अनुभव नहीं होता? अनुभव होनेपर भी उनकी स्थिति स्वप्नद्रष्टामें तीन कालमें नहीं होती।

इसलिए कम्पन, कम्पनकर्ता और कम्पनकाल सब भासके अंग हैं, किन्तु जिसमें यह भास है उसमें कम्पन नाममात्रको भी नहीं है। इसीलिए कहा **तत् न एजति**। अर्थात् परमात्मा वस्तुतः चलता नहीं।

तदेजतिमें जो 'तत्' है वह मातरिश्वा है जो कम्पित होता है। और **तन्नैजति**में जो 'तत्' है वह वही 'तस्मिन्' है जिसमें मातरिश्वा अपोधान करता है : 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।' और वह नहीं चलता।

प्रश्न होगा : 'तस्मिन्' और 'मातरिश्वा' क्या दो वस्तुएँ हैं कि एक नहीं चलता और दूसरा चलता है? उत्तर है नहीं; दोनों एक ही वस्तु हैं 'तत्'। वही 'तत्' सृष्टिकी उपाधिसे मातरिश्वाके रूपमें 'नहीं चलता' ऐसा प्रतीत होता है अथवा स्वरूपतः नहीं ही चलता।

जैसे गोपीमण्डलमें नाचते भी वही श्रीकृष्ण हैं और नृत्यसे विरत होकर शान्त भी बैठते हैं, वही श्रीकृष्ण। वैसे ही वही परमार्थ-तत्त्व जीवोंके कर्ममण्डलकी उपाधिसे मातरिश्वाके रूपमें कम्पित कल्पित होता है और वही निरुपाधि रूपमें (सृष्टिके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानके रूपमें) अकम्पित रहता है।

चेतन आत्मामें जब सृष्टिके नाम-रूप प्रतिबिम्बित होते हैं तब वही संकल्प और संकल्पकके रूपमें चलता प्रतीत होता है जब सृष्टिके नाम-रूप प्रतिबिम्बित नहीं होते तब वही आत्मा अचल अनुभव होता है : यही 'तदेजति तन्नैजति' है। सृष्टिको परमात्माके संकल्पमें समझ लेनेसे इस श्रुतिवाक्यका रहस्य समझमें आ जाता है।

तदेजति तन्नैजतिके द्वारा, 'तत्' जो शुद्ध आत्मतत्त्व है, उसमें काल-परिच्छेदका निषेध करते हैं। **तदेजति** कम्पन-काल है जिसमें आत्मा विविध विस्तारको प्राप्त होता है; और **तन्नैजति** निष्कम्प-काल है जिसमें उक्त सृष्टि-विस्तार उपलब्ध नहीं होता। एक कालमें 'एजन' अर्थात् कम्पन करनेकी क्रिया है, और दूसरे कालमें-अनेजन कालमें यह कम्पन-क्रिया नहीं है। किन्तु दोनों कालोंमें तत् वही है। अतः 'एजन' औपाधिक है। उपाधिका साहित्य एवं उपाधिका राहित्य दोनों ही औपाधिक है। और 'तत्' निरुपाधिक है। अंकुरात्मक कारण ब्रह्म (मातरिश्वा) सृष्टिकालमें अपोधान करता है तथा प्रलयकालमें अपोधान नहीं करता। किन्तु अपोधानके भाव और अभावसे उपलक्षित जो 'तत्' पदार्थ परमात्मा है वह दोनों कालोंमें समान रहता है। वह दोनों अवस्थाओंका प्रकाशक एवं अधिष्ठान है।

'एजन' और 'अनेजन' दोनों क्रियाएँ एक दूसरेकी व्यावर्तक हैं। अतः दोनों मिथ्या हैं, क्योंकि वे वहीं भासती हैं जहाँ वे नहीं हैं-

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्।

'अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होना ही मिथ्यात्वका लक्षण है।'

जैसे रज्जुमें जहाँ सर्पका अभाव है वहीं सर्पकी प्रतीति होती है; अतः सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार 'एजन' और अनेजन दोनों उसी

'तत्'में प्रतीत होते हैं जहाँ इनका अभाव है। अतः दोनों मिथ्या हैं। परिच्छिन्न सृष्टिकाल भी मिथ्या और परिच्छन्न प्रलयकाल भी मिथ्या, तथा दोनोंसे अपरिच्छिन्न 'तत्' पदार्थ ही सत् है। वह अपरिणामी है। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि 'तत्' पदार्थका अपरिणामित्व धर्म हो। परमात्मामें अपरिणामित्व धर्मकी परिकल्पना उसमें परिणाम निषेध करनेके लिए है।

इस प्रकार ब्रह्मकालके परिच्छेदके विनिर्मुक्त है। तथापि उसी अपरिच्छिन्न तत्त्वमें कालकी परिच्छिन्नता-भिन्नता अध्यस्त है। अध्यस्त अपने अधिष्ठानसे (उपादानतः) भिन्न नहीं होता, इसलिए 'तदेजति'से सूचित 'मातरिश्वा' और 'तस्मिन्'से सूचित अपरिच्छिन्न ब्रह्मतत्त्वका अभेद स्वतः सिद्ध है। आत्मामें काल अध्यस्त है, अतः कालसे अपरिच्छिन्न है आत्मा।

९. आत्मा ईश्वरका नवाँ परिचय : देशसे अपरिच्छिन्नता। **तत् दूरे तत् उ अन्तिके**=वह दूर भी है और अत्यन्त पास भी है। इसका स्पष्टार्थ यही है कि आत्मा देश-परिच्छेदसे विनिर्मुक्त है।

देश हमारी दैर्घ्य एवं विस्तारकी 'संवित्' का नाम है। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाईका विचार उत्पन्न करनेवाली विषयकी संवित्का नाम ही देश है। देहमें अभिमानके कारण ही हम पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेकी कल्पना कर पाते हैं। यह व्यावहारिक दशा है। लेकिन तत्त्व-विचारके समय व्यवहार-दशाको छोड़कर विचार करना पड़ता है।

तनिक सर्वव्यापक ईश्वरकी दृष्टिसे अपनी दृष्टि एक कीजिये और फिर देखिये क्या आपको कहीं पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणका भेद अनुभव होता है? तब क्या आपको कहीं दूर-पासका भेद अनुभव होता है? स्पष्ट है कि नहीं होता। ईश्वरकी दृष्टिसे दृष्टि मिलाते

ही गतिका अन्त हो गया। गति ईश्वरमें समाप्त हो जाती है। वहाँ न पराक् गति है, न ऊर्ध्वगति है; न अधोगति है और न तिर्यक्गति है : अर्थात् ईश्वरमें न बाहर जाकर भोग पाना है और न ऊपर जाकर स्वर्गादि लोक; उसमें न नीचे जाकर नरकादिको प्राप्त होना है और न तिरछे जाकर पशु-पक्षी आदिकी योनियाँ प्राप्त होनी है। मनुष्यकी सब सुगतियाँ एवं दुर्गतियाँ उसे तभी प्राप्त होती हैं जब वह देश-परिच्छेदसे पीड़ित 'देह'को मैं, मेरा स्वीकार कर लेता है।

'दूरे' और 'अन्तिके' दोनों देशकी उपाधियाँ हैं और 'तत्' निरुपाधिक है। वह न दूर है न पास है : वही दूर भी है और वही पास भी है।

बैकुण्ठ 'दूर' है और 'आत्मा' पास है। किन्तु दोनोंमें जो परमात्मा है वह एक है। पहचानना परमात्माको है। यदि पहचान लिया तो ईश्वर सर्वत्र है और यदि नहीं पहचाना तो ईश्वर कहीं भी नहीं है।

जो दूर है वह पास नहीं हो सकता और जो पास है वह दूर नहीं हो सकता। 'दूर' और 'पास' एक दूसरेके प्रतियोगी एवं व्यावर्तक हैं। अतः दोनों मिथ्या हैं। किन्तु जिस संविदात्मासे दोनों प्रकाशित होते हैं और देश-कल्पनाका जो अधिष्ठान है वह देश-परिच्छेदसे मुक्त है।

अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, एव सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।

'आत्मासे पहले कुछ नहीं है, अन्य कुछ नहीं है, बादमें कुछ नहीं है, बाहर कुछ नहीं है। यही जो पहले-पीछे, भीतर-बाहर, स्व-परका अनुभव करनेवाला आत्मा है यही परमात्मा है।'

दूर और पासमें भेद हैं। दोनों अपरिच्छिन्न देशमें अध्यस्त हैं। दूर और पास दोनों आकार हैं और इनका उपादान 'तत्' है। तत् दूरे

तद्वन्तिके। यह उपादान 'सत्' है इसलिए उपादान मृत्तिकामें घटके समान इनकी (दूर और पासकी) अन्यथा प्रतीति है और वही सत् 'चित्' भी है इसलिए ये अन्यथा प्रतीतियाँ केवल स्फुरण-रूप हैं, संकल्परूप हैं। अतः आत्माके स्वरूपमें 'दूर' और 'पास' स्फुरण मात्र अथवा स्वप्नवत् हैं। पण्डितराज जगन्नाथका एक श्लोक है।

निरुपादानसंरम्भं अभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने।।

'बिना किसी उपादानके, बिना भित्तिके ही जिन्होंने इस जगत् रूपी चित्रका विस्तार कर रखा है, उन श्लाघनीय कलाकार त्रिशूलधारी शिवको हम नमस्कार करते हैं।'

महाकवि तुलसीदासने भी इसी भावको यों व्यक्त किया है :

शून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं तनु बिन लिखा चितेरे।

(विनय-पत्रिका)

समीपता और दूरी केवल अन्तःकरणकी उपाधिसे है। देहमें अध्यास है, इसलिए कुछ अपने पास है और कुछ दूर है। व्यापक परब्रह्ममें देशका परिच्छेद ही नहीं है :

अहो! ईश्वर कितना पास है कि सबकी आत्मा ही है :

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गीता)

'सर्वभूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा, हे अर्जुन, मैं हूँ।'

और ईश्वर कितना दूर है कि नास्तिक तो कहता है कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु ही नहीं है!

'निरुक्त'का कहना है कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ भी उसीकी रक्षा करता है जो उसका चिन्तन-मनन करते हैं :

अविदितो देवो नैनं भुनक्ति।

अर्थात् 'अज्ञात परमेश्वर रक्षा नहीं करता।' वैष्णवोंमें इसे यों

कहते हैं कि **रक्षापेक्षामपेक्षते** अर्थात् ईश्वर या तो सबकी रक्षा करेगा या किसीकी रक्षा नहीं करेगा; क्योंकि वह सब परिच्छेदोंसे मुक्त है। किन्तु यदि कोई भक्त उससे रक्षाकी अपेक्षा करेगा और कहेगा कि 'हे भगवान्! हमारी रक्षा करो' तो वह उसकी रक्षा अवश्य करेगा। तुम एक कदम ईश्वरकी ओर चलो, वह भी एक कदम तुम्हारी ओर चलेगा। और सम्पूर्ण सृष्टि उसका एक कदम है। वह चला नहीं कि तुम्हारे पास पहुँचा।

इस प्रकार परमात्मा भक्तोंके लिए तो पाससे पास है और अभक्तोंके लिए दूरसे भी दूर है : **तद्दूरे तद्वदन्तिके।** भाव ही ईश्वरको दूर और पास कर देता है।

10. आत्मा ईश्वरका दसवाँ परिचय विषयसे अपरिच्छिन्नत्व तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

'वह परमात्मा इस सबके भीतर भी है और वही इस सबके बाहर भी है।' सबके भीतर अन्तःकरण रूपसे और बाहर कार्यरूपसे वही परमात्मा है। भीतर रहकर वही 'व्यंजक' है और बाहर वही 'व्यक्त' हो रहा है। यहाँ वस्तुगत परिच्छेदका निषेध किया गया है।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों दो वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। कभी उनमें विरोध होता है तो कभी समन्वय। जैसे; कभी-कभी भीतर क्रोध, हिंसा, लोभ आदि रहते हैं, जबकि बाहर कार्यमें क्षमा, अहिंसा और उदारता होती है। अथवा कभी-कभी माता-पिता या गुरुके हृदयमें बच्चे या शिष्यके प्रति ममता तथा वात्सल्य रहते हैं, लेकिन बाहरसे उनका व्यवहार कठोरता या ताड़नका होता है। यहाँ श्रुतिका कथन यह है कि व्यवहारमें अन्तर-बाहरका भेद रहते हुए भी उनमें तात्त्विक अभेद है, ठीक वैसे ही जैसे अन्तःकरणके सभी

परस्पर धर्म पञ्चमहाभूतोंकी विकृतियाँमात्र हैं, अतः उपादानतः सभी विकृतियाँ पञ्चमहाभूत हैं।

वस्तुका भीतर क्या है? उसका उपादान। वस्तुका बाह्य क्या है? उसका नाम, रूप और गुण। वस्तुके बाहर क्या है? उसका अधिष्ठान। तो श्रुति कहती है कि सब वस्तुओंका उपादान, उनका नाम-रूप-गुण और उनका अधिष्ठान सब ब्रह्म है। तब वस्तु क्या हुई? वस्तु ब्रह्ममें ही एक मिथ्या भानमात्र है तथा ब्रह्म वस्तुसे अपरिच्छिन्न है।

व्यवहारमें कुम्हार अलग है, मिट्टी अलग है, घड़ा अलग है, और आकाश अलग है जिसमें सूर्यका प्रकाश आता-जाता है और जिससे घड़ा दीखता है। किन्तु वाह रे ईश्वर! तू ही इस जगत्‌रूपी घड़ेका बनानेवाला है और तू ही इस जगत्-घटका उपादान है। तू ही इन घटाकृतियोंके रूपमें अभिव्यक्त हुआ है और तुझमें, तेरे प्रकाशसे ही ये सब नाम-रूप उपलब्ध हो रहे हैं। कारण भी तू है और कार्य भी तू!

आभ्यन्तर कारणावस्था है और बाह्य कार्यावस्था है। 'कारण' शब्दका अर्थ होता है : जिसमें करण लीन हों और जिसमें-से करण प्रकट हों। इस प्रकार आत्मा ही सर्वकारण-कारण है। अज्ञाततया उसीको ईश्वर कहते हैं। वही कारण है और वही कार्य भी, यह अभिप्राय है।

प्रश्न : संसारमें प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुसे उपादानतः भिन्न ही है; उनके नाम, रूप, गुण परस्पर भिन्न हैं। फिर उनका ऐक्य कैसे प्रतिपादित किया जाता है?

उत्तर : सभी भेद प्रमाण-सापेक्ष हैं। सुषुप्ति, मूर्च्छा या समाधिमें भेद किसने देखा है? किसीने नहीं देखा। तब भेद

व्यावहारिक है, यह सिद्ध हुआ। यहाँ श्रुति व्यावहारिक ऐक्यकी प्रतिज्ञा नहीं कर रही है। प्रमाण जिस चित्-तत्त्वमें (सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें) जाकर लीन हो जाते हैं और जिससे वे पुनः प्रकट हो जाते हैं और जो प्रमाणोंका भी उपादान है, उसमें कार्य-कारणका भेद उपलब्ध नहीं होता, यही बात यहाँ कही जारही है। यह पारमार्थिक अभेदकी बात है।

पुनः, थोड़ी दर्शन-प्रक्रियापर ध्यान दें। जो भी वस्तु आप अनुभव करते हैं, कहाँ करते हैं? आप घट देखते हैं तो कब? जब घट नेत्र-प्रमाण द्वारा आपके अन्तःकरणमें पहुँचता है, तब। यदि आपके मनके साथ, बुद्धिके साथ, आत्माके साथ घट नहीं मिला तो घटका अनुभव आप नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह सारी दुनिया घट, कुम्हार, मिट्टी, आकाश, भीतरपना, बाहरपना और इनके भेद- जब प्रमाण द्वारा आपके अन्तःकरणमें आते हैं तभी मालूम पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। अतः आप वस्तुका अनुभव नहीं मनःस्थ वस्तुका अनुभव करते हैं। तब घट, कुम्हार, मिट्टी, आकाश, भीतर, बाहर और इनके सब भेद, ये सब उपादानतः मन ही हैं। इन सबकी एक ही आत्मा है जो अनुभवकर्ताकी आत्मा है। आत्मामें देश, काल और विषयके परिच्छेद नहीं हैं। आत्मा देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छन्न है। परमात्मामें दूर-पास, आजकल, बाहर-भीतरका व्यावहारिक भेद नहीं। वह सबके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित चिदात्मा ब्रह्म है।

●

षष्ठ मन्त्र

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते[1]॥6॥

तु=किन्तु; **यः**=जो; **सर्वाणि भूतानि**=सब भूतोंको; **आत्मनि एव अनुपश्यति**=आत्मामें ही देखता है; **च**=और; **सर्वभूतेषु**=सब भूतोंमें; **आत्मानम् (एव अनुपश्यति)**= आत्माको ही देखता है; **ततः**=उसके पश्चात् वह; **न विजुगुप्सते**=किसीसे घृणा नहीं करता।

मनुष्यमें जो वणिक्-वृत्ति है वह उसे प्रेरित करती है कि वह वही कार्य करे जिसमें कुछ-न-कुछ लाभ हो। आत्मा यदि ब्रह्म है तो हुआ करे। आखिर उसे जान लेनेसे क्या लाभ है? इस प्रश्नका उत्तर देना यहाँ श्रुतिको अभीष्ट है। छठे एवं सातवें मन्त्रमें और थोड़ा आठवें मन्त्रमें भी इस उत्तरका समावेश है।

तीसरे मन्त्रमें ईश्वरको न जाननेवालेको 'आत्मघाती' कहा गया है। लेकिन प्रश्न होता है कि जब जाना नहीं गया ईश्वर और घात हुआ आत्माका-यह कैसे? ईश्वरको न जाननेका परिणाम, ईश्वरका घात होना चाहिए था : इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः ईश्वर और आत्मा दो नहीं, एक ही पदार्थके दो नाम हैं। इसी बातको प्रस्तुत मन्त्रमें 'सब भूतोंको आत्मामें और सब भूतोंमें आत्माको' इस प्रकार समझाया गया है। दूसरे शब्दोंमें जो 'तत्' है वही 'त्वं' है और जो 'त्वं' है वही 'तत्' है।

इस मन्त्रका महत्त्व इस बातसे भी प्रकट है कि इसी आशयके श्लोक गीता एवं मनुस्मृतिमें भी हैं। मनुष्यके सौम्य व्यवहारका

---

1. काण्व-शाखाके 'ईशावास्योपनिषत्'में इस मन्त्रके चतुर्थपादमें 'ततो न विजुगुप्सते'के स्थानपर 'ततो न विचिकित्सते' है।

आधार यही तत्त्वज्ञानका श्लोक है। जिसमें समदर्शन और जीवन्मुक्तिका परम स्वातन्त्र्य है :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

(गीता 6.29)

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।।

(मनुस्मृति 12.91)

मन्त्रार्थपर विचार :

तु=परन्तु। पूर्वपक्षके निराकरणके लिए 'तु' शब्दका प्रयोग है। यहाँ पूर्व पक्ष क्या है? पूर्वपक्ष यह है कि मनुष्य जीवनमें चारों ओर भय, दुःख, और अज्ञानका अनुभव करता है। इन्हींके वशीभूत होकर वह अपनेको परिच्छिन्न, संसारी, कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी अनुभवकर सृष्टिमें राग-द्वेषकी वृद्धि करता है। राग-द्वेषसे पुनः संस्कार और वासनाओंकी पुष्टि होती है जिससे न केवल वर्तमान बन्धन पुष्ट होता है, प्रत्युत पुनर्जन्मकी शृंखलाका सातत्य भी बना रहता है।

बन्धनका यह विषय-चक्र काटनेके लिए श्रुति तथा शास्त्रोंमें अनेक उपाय पाये जाते हैं। कर्मी लोग धर्माचरणसे, उपासक सगुण-साकार ईश्वरकी उपासनासे तो योगी वृत्तिनिरोधसे इस बन्धनकी निवृत्ति स्वीकार करते हैं। किन्तु वेदान्तका पक्ष यह है कि धर्म, उपासना अथवा वृत्ति-निरोध, पृथक्-पृथक् या मिलित रूपमें भी मोक्ष दिलानेमें असमर्थ हैं। वास्तवमें आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और वह केवल अज्ञानसे ही बद्ध-सा अनुभवमें आता है। आत्मा सत् है, इसलिए उसमें अज्ञानकी कल्पना अविद्या-सिद्ध है। आत्मा

आनन्द है, इसलिए उसमें दुःख अज्ञान-सिद्ध है। आत्मा अद्वितीय है, इसलिए उसमें राग-द्वेष, अपना-पराया, भेदमात्र अज्ञान-सिद्ध है। इस प्रकार हमारे बन्धनका मूल ही अज्ञानसिद्ध है तथा वह केवल ज्ञान द्वारा ही निवर्त्य है। यही वेदान्त-सिद्धान्त है।

वेदान्तकी विलक्षणता यह है कि यह केवल ज्ञानमात्रसे ही सर्व दुःखोंकी निवृत्ति स्वीकार करता है, जबकि अन्य सिद्धान्तोंमें कर्मके बिना मोक्ष सम्भव ही नहीं है। उन-उन सिद्धान्तोंमें मोक्ष कर्म द्वारा भविष्यत्-कालमें उत्पन्न होता है और इसीलिए वह नित्य नहीं होता। किन्तु वेदान्तमें ब्रह्म ज्ञानसे उपलक्षित आत्माका ही नाम 'मोक्ष' होनेसे वह उत्पाद्य नहीं है और ज्ञान समकाल ही सिद्ध है; अतः वह विनाशी भी नहीं है। ऋते ज्ञानान्न मुक्ति ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता, यह श्रुति-सिद्धान्त प्रसिद्ध ही है। इसी विलक्षणताको दिखानेके लिए यहाँ 'तु' शब्दका प्रयोग है।

इसके अतिरिक्त, 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', यह जो श्रुत्यादेश है, उसमें अबतक ईश्वरका स्वरूप तो स्पष्ट किया गया। किन्तु यह जगत् ईश्वरसे किस प्रकार आच्छादनीय है उसकी प्रक्रिया स्पष्ट नहीं हुई। इस मन्त्रमें उसी प्रक्रियाको लक्ष्य करानेके लिए यहाँ 'तु' शब्दका प्रयोग है।

यः=जो। यः पदसे यहाँ अधिकारीका बोध होता है। जो कोई भी मनुष्य वह चाहे किसी भी वर्ण, आश्रमका हो, स्त्री हो या पुरुष, भारतीय हो या अभारतीय, कोई भी रोजगार करता हो, यदि वह 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'की दृष्टि प्राप्त करना चाहता है, तो वह इस ज्ञान-प्रक्रियाका अधिकारी है। अवश्य ही उसे विवेक-वैराग्य आदि षट् सम्पत्तिसे सम्पन्न होना चाहिए।

अब ज्ञानकी वह प्रक्रिया क्या है, यह बताते हैं :

सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव च सर्वभूतेषु आत्मानम् एव अनुपश्यति

उपाधि और औपाधिक, सभी **सर्वाणि भूतानि** पदके वाच्य हैं। प्रकृति अथवा अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चमहाभूत और उनकी विकृतियाँ ये सब भूत हैं। प्रकृत्योपाधिक ईश्वर, महत्तत्त्वोपाधिक हिरण्यगर्भ, अहंकारोपाधिक विराट्, पञ्चमहा-भूतोपाधिक पञ्चदेव तथा उनकी विकृतियोंकी उपाधिसे उपहित समस्त देवता, दानव और मनुष्य तथा सब स्थावर-जंगम, जड़-चेतनात्मक इकाइयाँ, ये सब 'सर्वाणि भूतानि'के अन्तर्गत हैं। जो भासता है सो भूत। इस प्रकार सम्पूर्ण कार्य-कारण प्रपञ्चभूत हैं।

इन सब भूतोंको **आत्मनि एव अनुपश्यति** अर्थात् आत्मामें ही देखता है। इसका अर्थ है कि 'ब्रह्माभिन्ने प्रत्यक्चैतन्ये अनुपश्यति' ब्रह्मसे अभिन्न जो भीतरवाला चैतन्य (त्वं पदार्थ) है उसमें देखता है। वही जिसे 'ईशावास्यम्'में ईश्वर कहा गया है, तथा 'अनेजदेकं मनसो जवीयो' इत्यादि कहकर तथा 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि कहकर जिसका देश-कालसे अपरिच्छिन्नत्व वर्णन किया गया है; जो सबके बाहर और भीतर रहता हुआ हिरण्यगर्भ (मातरिश्वा)के अपोधानका अधिष्ठान है, उसी ब्रह्म या ईश्वर या आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखनेकी बात यहाँ है। यहाँ 'आत्मा' और ईश्वरकी एकताका स्पष्ट प्रतिपादन है। **ईशावास्यमिदं सर्वम्** यह सब ईश्वरसे आच्छादनीय है। और **सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव** सब भूत आत्मामें ही हैं। इस प्रकार जो ईश्वर है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ईश्वर है।

अनुपश्यति अर्थात् देखता है, अनुदर्शन करता है। यहाँ 'अनु' उपसर्गका अर्थ ध्यानमें लेने योग्य है। नेत्रसे रूप दीखता है,

आकृति दीखती है। किन्तु बुद्धिसे क्या दीखता है? सुन्दर, असुन्दर, ग्रहणीय अथवा त्याज्य। बुद्धिसे जो दीखता है वह नेत्रसे देखनेके पीछेकी स्थिति है। नेत्र आगे देखते हैं और बुद्धि पीछे (अनु) देखती है। इसी प्रकर बुद्धि आगे जिसे सुन्दर-असुन्दर बताती है, आत्मा पीछे उसका केवल भास कराता है। यानी बुद्धिके 'अनु' आत्मा है। आत्मा सम्पूर्ण दर्शन करणोंके पीछे है, उन समस्त करणों और उनके विषयोंका प्रकाशक तथा उनका अधिष्ठान भी है। इसलिए 'अनुपश्यति'का अर्थ है : दर्शनकी सब प्रक्रियाओंका स्वयं-प्रकाश आत्मामें पर्यवसान होना।

नेत्र केवल रूप देखते हैं। बुद्धि नेत्रको भी देखती है और उसके विषय रूपके साथ मिले हुए (सुन्दर-असुन्दर रूप) पूर्व-संस्कारको भी देखती है। अहंकार नेत्र-बुद्धिसहित संस्कार-विशिष्ट रूपको देखता है। आत्मा नेत्र-बुद्धि-अहंकारसहित संस्कारविशिष्ट रूप और इन सबके अभावको भी (सुषुप्तिमें) देखता है। इसलिए आत्मदृष्टि ही वस्तुतः अनुदर्शन है।

यदि विलोम क्रमसे विचार करें तो सर्वप्रथम आत्म-दृष्टि है, पश्चात् क्रमसे अहंकार-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि एवं इन्द्रिय-दृष्टि है। यही बात माण्डूक्यमें तुरीय, प्राज्ञ, तैजस एवं विश्व दृष्टिके नामसे कही गयी है। वास्तविकता यह है कि आत्मा सबसे आगे भी है और सबसे पीछे भी। यथार्थतः अवभासक आत्मा ही है, करण तो उसमें निमित्तमात्र हैं।

संसारमें साधारणतः यही देखा जाता है कि जो अधिष्ठान होता है वह अध्यस्त नहीं, जो अध्यस्त होता है वह अधिष्ठान नहीं, जो कार्य होता है वह कारण नहीं, जो कारण होता है वह कार्य नहीं; जो दृश्य होता है वह द्रष्टा नहीं, जो द्रष्टा होता है वह दृश्य नहीं, जो

परिच्छिन्न होता है वह अपरिच्छिन्न नहीं, और जो अपरिच्छिन्न होता है वह परिच्छिन्न नहीं। जो दूर होता है वह पास नहीं, और जो पास होता है वह दूर नहीं, जो स्थिर होता है वह गतिशील नहीं, और जो गतिशील होता है वह स्थिर नहीं है।

किन्तु आत्मदृष्टि इस दर्शनसे सर्वथा भिन्न है। अधिष्ठान–अध्यस्त, कार्य–कारण, द्रष्टा–दृश्य, ससीम–असीम, दूर–पास, बाहर–भीतर, गति–अगतिका भेद आत्मामें है ही नहीं। ये सारे भेद उसीमें और उसीसे प्रकाशित भी होते हैं तथा उसीमें उनका अत्यन्ताभाव भी है यह **अनुपश्यति** शब्द दर्शनकी इसी विलक्षणताका दिग्दर्शन कराता है।

अनुपश्यतिसे एक दूसरी बात भी कही गयी है। वेदान्तकी प्रक्रिया रटकर बुद्धिसे स्वयं समझ लेना और दूसरेको समझा देना, इस योग्यता–सम्पादनका नाम 'अनुपश्यति' नहीं। वह तो प्रत्येक पण्डित कर सकता है। उसमें आध्यात्मिक अधिकार–सम्पादनको अवकाश कहाँ रहा? इसलिए यः **आत्मत्वेन अनुपश्यति आत्मनि एव अनुपश्यति अनुपश्यति एव च**, यह भाव है। जो विवेक–वैराग्य–षट्सम्पत्तिसम्पन्न अधिकारी है वही आत्मत्वेन देखता है, अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करता है, केवल बौद्धिक अनुभव नहीं। वह सब भूतोंको आत्मामें ही अध्यस्त देखता है और केवल देखता ही है, उसके लिए कोई कर्म या श्रम नहीं करता।

यहाँ आत्माको ब्रह्म अनुभव करनेमात्रकी महिमाका वर्णन है। ब्रह्मके लिए किसी कर्म, उपासना या योग करनेका माहात्म्य नहीं है। इसलिए 'अनुपश्यति'का अर्थ है कि 'सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें' जानो; बस इस जाननेमात्रसे ही विजुगुप्सासे

मुक्ति हो जाती है। 'अनुपश्यति'में ज्ञानमात्रका संकेत है और अन्य किसी साधनसे उत्पन्न किसी भी अवस्था-विशेषका निषेध है।

अब प्रश्न यह है कि 'सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें' जानें तो कैसे? इसमें मूल बात समझनेकी यह है कि 'सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें' यही वस्तुस्थिति है, यह कोई बुद्धिकी उत्पाद्य अवस्था नहीं। बुद्धि या विचारसे तो केवल उस वस्तु-स्थितिका अवलोकनमात्र करना है।

यह सामने उपनिषद्‌की पुस्तक रखी है। यह भी एक भूत है। यह कहाँ रखी है? आकाशमें, चौकीपर। इसका उपादान क्या है? कागज। इसका नाम? उपनिषद् : इसका रूप? आयताकार। इसका वर्ण? श्वेत-श्याम। इसकी उपयोगिता? बुद्धि-शुद्धि अथवा बौद्ध ज्ञान। इसका प्रकाशक? सूर्य अथवा दीपक। इसके रूपका प्रमाण? नेत्र। तो, पुस्तकके साथ कितनी बातें हो गयीं-पुस्तक है, यह 'सत्ता'। पुस्तक भासती है, यह 'ज्ञान'। पुस्तकमें उपयोगिता है, यह 'प्रियता'। सत्ता-ज्ञान, भास-ज्ञान और प्रियता-ज्ञान-ये तीन बातें हुईं। फिर पुस्तकका 'नाम' और पुस्तकका 'रूप' (आकृति, वर्ण)-दो बातें, कुल पाँच बातें हुईं। फिर पुस्तकका प्रकाशक 'प्रकाश' छठी बात, पुस्तकका 'अधिष्ठान' आकाश यह सातवीं बात और पुस्तकके सम्बन्धमें प्रमाण 'नेत्र' यह आठवीं बात हुई। इसके अतिरिक्त नवीं बात है 'मन' जिसके बिना नेत्र काम नहीं करता, दसवीं बात है बुद्धि जिसके संस्कार-ज्ञानके बिना पुस्तक पहचानी नहीं जाती; ग्यारहवीं बात है 'अहं' जो इन सम्पूर्ण पुस्तकीय ज्ञानोंको समन्वित करके ज्ञानाभिमानी बनता है और कहता है कि वह अमुक पुस्तक है और मैं इसे जानता हूँ। बारहवीं बात है 'आत्मा' जो स्वयंप्रकाश ज्ञान है और वही इन सभी अन्य ज्ञानोंका प्रकाशक एवं अधिष्ठान है।

नेत्र प्रमाण द्वारा जब पुस्तक मानस-पटलपर अंकित होती है तब उस मानसिक पुस्तकका दर्शन एवं ज्ञान ज्ञाताको होता है। वास्तवमें ज्ञाताको तो मानसिक पुस्तक ही भासती है, भले ही उसकी प्रतीति बाहर हो, क्योंकि बाहरपना भी मनमें ही भासता है, ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नमें सब पदार्थ जाग्रत्‌की भाँति बाहर ही भासते हैं, यद्यपि वे होते हैं अपने मानसिक प्रक्षेपण ही जाग्रत् और स्वप्नके ज्ञानकी प्रक्रिया सर्वथा एक-सी है।

अब देखिये, मनमें जो भास रहा है वह आत्मामें ही भास रहा है। आत्मा ही उस रूपमें भास रहा है। उस भासमान दृश्यकी आत्मा (ईश्वर या तत्-पदार्थ) और द्रष्टाकी आत्मा (अर्थात् द्रष्टाका परमार्थस्वरूप 'त्वं'-पदार्थ या कूटस्थ आत्मा) दोनों सर्वथा एक हैं। शास्त्रकी भाषामें कहना हो तो विषयावच्छिन्न चेतन और प्रमातावच्छिन्न चेतन दोनों वही हैं, जो अनवच्छिन्न चेतन है।

तो यह सम्पूर्ण सृष्टि, इसका फैलाव और संकोचन, इसकी उत्पत्ति और प्रलय, इसका वजन और इसके गुण, सब आपको आपमें ही दिखते हैं, सुषुप्तिमें सब आपमें ही लीन हो जाते हैं और पुनः जाग्रत् होनेपर आपमें-से ही प्रकट हो जाते हैं। तब ये सम्पूर्ण भूत आपमें ही स्थित हैं और आप स्वयं ही इनके अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप, प्रकाशक, प्रमाण और अधिष्ठानके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। यह आत्मदेवकी विचित्र लीला है!

ईश्वरसे सृष्टिको उत्पन्न होते किसीने नहीं देखा, किन्तु आत्मासे सृष्टिको प्रकट होते सबने देखा है। सुषुप्ति टूटनेपर सर्वप्रथम कुछ नहीं सूझता, फिर अहं स्फुरित होता है, फिर अपना शरीर और पर्यावरण स्फुरित होता है, तदुपरान्त सम्पूर्ण सृष्टि अनुभवमें आती है। ठीक इसके विपरीत क्रमसे जाग्रत्‌से सुषुप्तिमें

जाते हुए सृष्टिका लय आत्मामें होता हुआ सबने देखा है। जाग्रत् और स्वप्नमें सभीका यह अनुभव तो प्रत्यक्ष ही है कि आत्माके रहते हुए ही सर्व प्रकाशित होता है, अन्यथा नहीं।

यह नियम है कि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसके बिना जिसका अस्तित्व या सत्ता नहीं और जिसमें जिसका लय होता है, वह वास्तवमें वही होता है। अतः आत्मा ही यह सर्व है। उसीको अज्ञानावस्थामें ईश्वर कहते हैं।

ये भूत क्या हैं, ज्ञान-रश्मियोंके वक्रीभवन परिणाम हैं। वस्तुतः ये ज्ञानाभिन्न हैं।

इस ऐक्यानुभूतिका सहज परिणाम है भेद-भ्रमकी निवृत्ति और उस राग-द्वेषकी निवृत्ति जो भेद भ्रमपर आधारित है।

निज प्रभुमय देखउँ जगत् केहि सन करउँ विरोध।

(रामचरितमानस)

इसीको यहाँ श्रुति कहती है : **ततो न विजुगुप्सते** इस ऐक्यानुभूतिके अनन्तर वह मनुष्य किसीसे घृणा नहीं करता।

'घृ' धातुसे पिघलनेके अर्थमें घृणा, धर्म, घृत आदि शब्द बनते हैं, चित्त संवेदनाका ताप न सह पाया तो घृणा हो गयी, शरीर बाह्य ताप नहीं सह सका तो धर्म या पसीना हो गया और घृत बाह्य ताप न सह सकनेके कारण पिघल गया। घृणा चित्तका दौर्वल्य है। घृणा अपनी असहिष्णुता है।

जब सब अपना आत्मा ही है तब इसमें घृणा या असहिष्णुताको स्थान ही कहाँ? दूसरोंको या उनके व्यवहारको देखकर आपकी जो नाक-भौंह सिकुड़ती है, जमीनपर जो आप थूक देते हैं, यह आपको पता नहीं कि आपका वह थूक आपपर ही गिरता है। आप स्वयं अपनेसे ही घृणा करने लग जाते हैं।

जुगुप्सा अर्थात् निन्दा आप दूसरोंकी नहीं, अपनी ही करते हैं। लेकिन यह बात आप नहीं जानते और जब जान जाते हैं तब पर-निन्दा छूट जाती है।

यह ठीक है कि आत्मा निन्दा-स्तुतिसे परे है, इनसे असंग है, किन्तु निन्दामें जो परायेपनकी गन्ध है, उसका आत्मज्ञानीके जीवनमें अवकाश ही कहाँ है? 'सबहिं मानप्रद आप अमानी' यह जीवन्मुक्तिका सूत्र है।

काण्व-शाखाके अनुसार **ततो न विचिकित्सते** यह पाठ है। विचिकित्सा अर्थात् संशयका अन्त हो जाता है, ऐसा अर्थ है। वेदान्तकी जो प्रतिज्ञा है-

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

'जिसे जानकर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है' वह पूरी हो जाती है। इस तत्त्वज्ञानके समान न और कोई ज्ञान है, न और कोई अनुभव तथा न और कोई रहनी।

जीवके आठ पाश प्रसिद्ध हैं :

घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः।।
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदा शिवः।

(कुलार्णव तन्त्र)

यहाँ 'ततो न विजुगुप्सते' कहकर आठों पाशोंसे जीवकी मुक्तिका संकेत किया है। पाशमुक्त जीव सदा शिव ही है।

तत्त्वज्ञानी सन्त किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितिसे घृणा (राग-द्वेष) नहीं करते। उनके जीवनकी अनेक घटनाएँ हैं। नमूनेके लिए आपको सुनाते हैं :

एक कथा आती है कि भगवान् शंकर एक बार देवी उमाके

साथ वृषभपर विराजमान कहीं जा रहे थे। मार्गमें कहीं सनत्कुमारजी मिल गये। वे अपनी तन्मयतामें थे, अतः उन्होंने उमा-महेश्वरको प्रणाम नहीं किया। भगवती पार्वतीको लगा कि सनत्कुमारने शंकरजीकी उपेक्षाकर उनका अपमान किया, अतः शाप दे दिया- 'ऊँटकी भाँति सिर उठाये जारहे हो, तो ऊँट ही हो जाओ।'

सनत्कुमारजी ऊँट बन गये। थोड़े दिन बाद भगवान् शंकर पार्वतीजीको लेकर सनत्कुमारको देखने निकले तो देखा कि वे तो बड़े मजेसे सिर उठाकर नीमकी पत्तियाँ खा रहे हैं। शंकरजीने पूछा, 'कहो, कैसी दशा है?'

सनत्कुमार बोले : 'माता तो नित्य दयामयी होती हैं। उन्होंने बड़ी कृपा की कि हमें ऊँट बना दिया। अब न किसीके घर उपदेश करने जाना पड़ता है और न किसीका भिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। अब मल-त्यागके पश्चात् शौचाचारसे भी छुटकारा हो गया। सिर उठाया और पत्ते खा लिये। अपने लिए तो बड़ा आनन्द हो गया!'

पार्वतीजीने शाप समाप्त कर दिया।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानीके लिए न कहीं परहेज और न कहीं घृणा और न कहीं राग, न संशय और न विर्पयय! उसके लिए कहीं कोई भय नहीं रह जाता। संसारके आकारसे ही आस्था हट गयी तब फिर जुगुप्साको स्थान कहाँ? ततो न विजिगुप्सते।

●

सप्तम मन्त्र

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।7।।

यस्मिन्=जिस कालमें; **विजानतः**=तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए; **आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूद्**=अपनी आत्मा ही सर्वभूत हो गया; **तत्र**=उस कालमें; **एकत्वम् अनुपश्यतः**=उस एकत्वदर्शी तत्त्वज्ञानीके लिए; **कः मोहः कः शोकः**=क्या मोह और क्या शोक? अर्थात् उसके लिए शोक-मोह नहीं रह जाते।

मन्त्रार्थपर विचार

ब्रह्मज्ञानकी महिमाका प्रसंग छठे मन्त्रमें प्रारम्भ हो चुका है। उसीको यहाँ आगे बढ़ाते हैं। 'सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें'-यह तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि है। इस कथनमें श्रुतिने जो बात छिपा ली थी; उसीका उद्‌घाटन यहाँ सातवें मन्त्रमें किया गया है।

वह रहस्यमयी बात यह है कि वास्तवमें श्रुति कहना चाहती थी कि सम्पूर्ण भूत आत्माके ही चिद्‌विलास हैं, अतः आत्मासे भिन्न उसकी कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती। किन्तु वहाँ आधार-आधेयकी दृष्टिसे यह कहा कि सब भूत आत्मामें हैं और आत्मा सब भूतोंमें है। लेकिन चैतन्य वस्तुकी अधिष्ठानता बड़ी विलक्षण वस्तु है। यथार्थतः किसीका अधिष्ठान नहीं होता। वह मुख्यतः प्रकाशक होता है। इसलिए जहाँ कहीं चैतन्यकी सृष्टिका अधिष्ठान बताया जाता है तो वहाँ यही तात्पर्य होता है कि चैतन्यमें सृष्टि संकल्पमात्र, स्फुरणमात्र और स्वप्नवत् है। दूसरे शब्दोंमें चैतन्य ही सृष्टिके नाना नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त है। इसलिए सम्पूर्ण भूत ज्यों-के-त्यों (अर्थात् जैसे भी प्रतीत होते हैं वैसे ही) चैतन्यात्मा हैं। **सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्** द्वारा अब यही कहा जा रहा है।

यों भी, 'सर्वभूत आत्मामें' कहनेका तात्पर्य है कि आत्मा अधिष्ठान है और उसमें सब भूत अध्यस्त हैं; तथा 'आत्मा सर्वभूतोंमें' कहनेका तात्पर्य है कि भूत अधिष्ठान हैं और आत्मा उनके आश्रित है। इस प्रकार आत्मा और भूत दोनों ही परस्पर अधिष्ठान और अध्यस्त सिद्ध होते हैं। यह कथन तभी निरापद सिद्ध हो सकता है जब या तो दोनों एक ही वस्तु हों और या अधिष्ठान-अध्यस्त भाव मिथ्या हो। इसमें भी आत्मा मिथ्या हो नहीं सकता; क्योंकि यह वदतो व्याघात होगा। इसलिए यही मानना समीचीन है कि सत्य आत्मामें सृष्टि रज्जुसर्पवत् अथवा स्वप्नवत् मिथ्या भासमान है तथा सृष्टिमें आत्माकी ओतप्रोतता ठीक वैसी ही है, जैसी कि स्वप्नद्रष्टाकी स्वप्नक पदार्थोंमें अथवा रज्जुकी सर्प आदि विकल्पोंमें। वहाँ स्वप्नके भूतोंके बाहर और भीतर, उनके अधिष्ठान एवं उपादानके रूपमें, मात्र स्वप्नद्रष्टा ही है तथा स्वप्नके पदार्थोंका अस्तित्व स्वप्नद्रष्टासे भिन्न नहीं। वहाँ आत्मा ही सब कुछ हुआ है : **आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत्।**

विजानतः एकत्वमनुपश्यतः यस्मिन् आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्-इस प्रकार मन्त्रका अन्वय है। अर्थात् 'एकत्वदर्शी विज्ञानीको जिस समय अपना आत्मा ही सर्वभूत हो गया।' इसमें 'अभूत' (हो गया)का अर्थ यह नहीं कि आत्मा सर्वभूतोंके रूपमें परिणत हो गया या सर्वभूत आत्मामें लीन हो गये, ऐसी अनुभूति हो गयी। प्रत्युत तो सर्वभूतरूप पहलेसे ही था, अब भी है और आगे भी रहेगा। बस, उसे इस बातका पता नहीं था, जो अब लग गया, यह ज्ञान हो गया। ज्ञानसे कोई नयी वस्तु बनती नहीं और न किसी वस्तुका लय या रूपान्तरण ही होता है। वस्तुके स्वरूपके बारेमें जो अज्ञान रहता है केवल उसकी निवृत्ति-भर उससे होती है।

'आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्'-यह सर्वभूतोंकी दृष्टिसे ही कहा जाता है। 'आत्मा सर्वरूप है' अथवा 'आत्मा सर्वात्मक है'-यह आत्मामें विषय-परिच्छेदका निषेध करनेके लिए है, आत्माका स्वरूप-कथनके लिए नहीं, क्योंकि आत्माके स्वरूपमें सिवा आत्माके (ज्ञानके) अन्य किसीको अवकाश नहीं है। आत्मामें 'सर्व' त्रिकालमें नहीं; तथापि उसीमें उसीसे भास रहा है। 'विजानतः' पदसे यहाँ ऐसा हो आत्मज्ञानी सूचित किया गया है।

विविच्य जानाति, विशिष्य जानाति, लोकज्ञानात् विपरीतं जानाति इति विजानन् तन्य विजानतः।

द्रष्टा-दृश्यका विवेक करके (विविच्य) जानता है, माया, अन्तःकरण आदिके विशेषणका ज्ञान (विशिष्य) उसने प्राप्त किया; और लोकके सामान्य ज्ञानसे विपरीत जानता है; क्योंकि लोकमें तो दृश्यको सत्य और परमेश्वरको अपनेसे पृथक् जानते हैं और यह ज्ञानी पुरुष दृश्यको मिथ्या तथा परमेश्वरको अपनेसे अभिन्न जानता है। ऐसा जानना 'विजानन' है और उसको जाननेवाला विजानतः है।

'विजानतः'का मुख्य लक्षण श्रुति मन्त्रमें ही स्वयं देती है : **एकत्वम् अनुपश्यतः।** 'विजानतः' अर्थात् एकत्वका अनुदर्शन करनेवाला। वह प्रत्यक् चैतन्य तथा अधिष्ठान चैतन्यका एकत्व देखता है, अर्थात् वह देखता है कि जो देहका द्रष्टा है वही देहका अधिष्ठान भी है। द्रष्टामें ही द्रष्टाको देह-दृश्यका भान हो रहा है। जगत्की कोटि-कोटि देहोंका अधिष्ठान चेतन और एक देहका प्रत्यक चैतन्य दोनों दो नहीं हैं, एक ही है। जो सन्मात्र है, वही चिन्मात्र है।

छठे मन्त्रमें जो 'अनुपश्यति'का अर्थ है वही यहाँ भी है। अनुपश्यति अर्थात् 'आत्म-दृष्टि रखता है।' एकत्वम् अनुपश्यतः अर्थात् सर्वभूतोंमें आत्मतया एकत्व दृष्टिवाला।

जिस क्षण महावाक्यजन्य ज्ञानसे ब्रह्मात्मैक्य-वृत्तिका उदय हुआ, ठीक उसी क्षण उसी अन्तःकरणमें जिसमें इस वृत्तिका उदय हुआ, यह बोध हो गया कि 'आत्मैव सर्वाणि भूतानि अभूत्' स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान चिन्मात्र प्रत्यक तत्त्व ही समस्त दृश्य, सन्मात्र हुआ है। वृत्ति ज्ञानसे विलक्षण नहीं है और न आकार सत्तासे विलक्षण है; अर्थात् जो पञ्चभूताधिष्ठान सन्मात्र ईश्वर है, वही आकारका प्रकाशक चिन्मात्र प्रत्यक् चैतन्य है, दोनों एक ही तत्त्व हैं', जब यह साक्षात् अपरोक्ष हो गया, ठीक उसी क्षण जिस क्षण महावाक्यजन्य प्रज्ञाका उदय हुआ। इसलिए **यस्मिन्** पदका अर्थ है : **वृत्तिव्याप्तिकाले।**

यहाँ 'अभूत्' क्रिया है जो 'भू' धातुसे नहीं; **असि भुविसे** बनी है। अतः 'अभूत्'का अर्थ है अस्तिमात्र। अस्ति, भवति और करोति-इसके ये तीन रूप हैं। 'अस्ति'में केवल होना है, उसमें प्रयत्न नहीं है, परिवर्तन भी नहीं है। 'भवति'में प्रयत्न नहीं है किन्तु परिवर्तन है। और 'करोति'में प्रयत्न और परिवर्तन दोनों हैं। 'अस्ति' द्रष्टामें ही है। 'भवति' प्रकृति तथा महतत्तत्त्वमें है। 'करोति' अहंकारमें है।

अतः 'असि भुवि' धातुसे बनी यह 'अभूत्' क्रिया प्रयत्न तथा परिवर्तन नहीं, सत्तामात्र, अस्तिमात्र सूचित करती है। यह सूचित करती है कि आत्मा सर्वभूतके रूपमें परिणत नहीं होता। अपना आत्मा सर्वरूप है ही। इसे नहीं जानते थे। ज्ञानसे यह भ्रम दूर हो गया और यह बोध हो गया कि आत्मा ही सर्व विषय रूपमें भासमान है।

यह एकत्वदर्शन भी व्यवहार दशामें ही है, समाधि दशामें नहीं, क्योंकि समाधिदशामें तो शोक-मोह होते ही नहीं। अर्थात् जहाँ

व्यवहार-दशामें वे होते हैं और जब एकत्वदर्शनका फल शोक मोहकी निवृत्ति बताया जा रहा है तब वह एकत्वदर्शन भी व्यावहारिक दशामें ही होना चाहिए। अतः आत्मदर्शनकी यह अवस्था भी व्यवहारदशामें ही है।

यह कैसी विचित्र अवस्था है! हमारे मोकलपुरके बाबा कहते थे : 'जो मक्खी सो मैं, जो मच्छर सो मैं। जो चिड़िया सो मैं, जो पशु सो मैं।' बड़े सिद्ध महात्मा थे। एक बार एक जागीरदार उन्हें अपने घर ले गया। उसके यहाँ पुत्र होनेका उत्सव था। उसका ख्याल था कि बाबाजी कृपासे उसे पुत्र प्राप्त हुआ है। वहाँ एक वेश्या नृत्य कर रही थी और बाबा अपनी मस्तीमें बैठे सब देख रहे थे। वे जागीरदारसे उस वेश्याको रुपया दिलवाने लगे। एक-दो बार तो जागीरदारने दे दिया। फिर बोला : 'महाराज, आप कहें तो हम हजार-दो-हजार दान-पुण्य कर दें, इस वेश्याको क्यों दिलवाते हैं?' बाबा एक साथ चौंक उठे बोले : 'अरे गुरु! यह वेश्या है! हम तो समझते थे साक्षात् सरस्वती नृत्य कर रही है।' यह दृष्टि महात्माकी।

एक और महात्मा थे अलीगढ़ जिलेके अतरौली कस्बामें। लोग उन्हें 'दूधा बाबा' कहते थे। बड़े मस्त, बड़े फक्कड़! लोग उन्हें चुरा ले जाते और वे किसीका प्रतिवाद नहीं करते थे। एक बार किसी भगतके लड़कीकी शादी थी। उसने सोचा कि लड़कीको जो जेवर देना है उसे पहले बाबाको पहना देंगे तो पवित्र हो जायगा। उसने शामको आकर उन्हें जेवर पहिना दिया। विरोधीको सुराग लग गया। रातमें वह आया और सारे जेवर उतार ले गया। अगले दिन भगतसे पूछा : 'बाबा, वे जेवर कहाँ हैं?' बाबाने कहा : 'कैसे जेवर?' बोले : 'वे ही जो कल आपको पहनाये थे।' बाबा बोले : 'जिसने पहिनाया था वही ले गया।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको एक सेठके सामने किसीको कह दिया कि यह बड़ा भक्त है। सेठने सोचा : बाबा तो ज्ञानी हैं, हमें इनसे भक्ति कहाँ मिलेगी? अतः जिसे ये भक्त बता रहे हैं उसीसे हमें भक्ति मिलेगी। अब वह सेठ उस भक्तके चक्करमें जो आया सो ठगा गया। लौटकर बाबासे कहा : 'महाराज, वह तो भक्त नहीं चोर निकला।' बाबाने कहा : 'भाई, हमने तो उसके हृदयमें भगवान्को देखा था, चोरको नहीं।'

'एकत्वम् अनुपश्यतः' यह कोई लय नहीं है। प्रत्युत व्यवहार करते हुए ही सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चमें यह दृष्टि है कि 'जो तुम सो मैं, जो मैं सो तुम।'

एकत्वम् अनुपश्यतः यह कोई अवस्था-विशेषका अनुभविता नहीं है और न कोई भावना करनेवाला कोई कर्ता ही है जो यह भावना करता हो कि यह सब आत्मा ही है। यह दर्शन है, अनुदर्शन है, दृष्टि है, बोध है।

भावना श्रद्धामूलक होती है, अर्थात् उसमें श्रद्धाकी प्रेरणा होती है। भावना कर्ताके अधीन होती है। कर्ता वैसी भावना करे, न करे अथवा विपरीत भावना करे। इसीको कहते हैं कि कर्ता भावनाके सम्बन्धमें **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्** समर्थ है। भावनामें आवृत्ति भी करनी पड़ती है और उस आवृत्तिसे साध्यफलकी उपलब्धि होती है।

किन्तु तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि भावनासे नहीं होती, उसका दर्शन होता है। यह प्रमाताके अधीन नहीं, प्रमेयके अधीन है। तत्त्वदर्शन ज्ञेयके अधीन है; क्योंकि तत्त्व जैसा है, उसे ज्यों-का-त्यों जाना जाता है। यदि कोई प्रमाण तत्त्वमें परिवर्तन करे तो वह प्रमाण ही नहीं रहेगा। प्रलय भी तत्त्वमें कोई परिवर्तन नहीं करता,

केवल आकृतिमें करता है। कुम्हार क्या मिट्टीमें परिवर्तन करता है? केवल घड़े, सकोरे आदि आकृतियोंमें ही परिवर्तन होता है। भावनासे संकल्पमें परिवर्तन होता है, उपादान द्रव्यमें नहीं। कलशमें वरुण देवता और मूर्तिमें गणेशकी भावनासे कलश या मूर्तिकी धातु नहीं बदल जाती। परिवर्तन जितने होते हैं, कर्ताके संकल्प या प्रयत्नसे होते हैं और वे आकारमें ही होते हैं, मूल वस्तु यथावत् रहती है।

सृष्टि अपने उपादानसे भिन्न नहीं है। इसके मूल द्रव्यमें कोई परिवर्तन न हुआ है, न होना सम्भव है। विश्वप्रपञ्चमें जितना भी भेद है सब आकारगत भेद हैं। इसलिए पूर्वमीमांसा दर्शन आकृतिकी उत्पत्तिका निर्णय कर्म-विचार द्वारा करता है।

तत्त्वदर्शन श्रद्धामूलक नहीं है; इसमें भावना नहीं करनी है। वह कर्ताके अधीन भी नहीं है। शालग्राम शिलाको यहाँ नारायणके रूपमें भावित नहीं करना है, उसे शिलाके रूपमें ही जानना है। उसकी कठोरता, आकार आदि भावनासे परिवर्तनीय नहीं। अतएव दर्शनमें श्रद्धा नहीं, अनुसन्धानकी प्रधानता है। यहाँ ज्ञानकी आवृत्ति नहीं करनी है। अन्धेरे कमरेमें सोने गये और वहाँ पड़ी रस्सीमें सर्पका भ्रम हुआ तो टार्च जलाकर देख लिया तो अब न रस्सी हटानेकी आवश्यकता है और न बार-बार टार्च ही जलाकर देखनेकी आवश्यकता है। अब कमरेमें निश्चिन्त सोया जा सकता है। साध्य-फलकी प्राप्ति भी दर्शनमें नहीं है, क्योंकि यहाँ तो ज्ञान ही फल है और ज्ञान स्वयं सिद्ध है। सिद्ध वस्तुकी उपलब्धि ही तत्त्वपदार्थका फल है।

वेदान्तकी यह प्रतिज्ञा है कि एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है :

यस्मिन विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

अतः यहाँ उसी एकके अनुभव करनेवालेको 'विजानतः' कहा है।

'विजानतः' कौन? **एकत्वम् अनुपश्यतः**=जो एकत्वदर्शी है, तत्त्वदर्शी है। **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्; विजानन् विद्वान भवते नातिवादी;**

नान्यच्छृणोति नान्यत् पश्यति नान्यद् विजानाति।

आदि सभी श्रुतियोंमें विजानतःका अर्थ प्रत्यक् चैतन्यसे ब्रह्मका अभिन्नत्व देखना ही सूचित किया गया है। अवश्य ही यह आत्मविज्ञानी पुरुष अन्तरंग-बहिरंग साधनोंसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर चुका है तथा पदार्थशोधनपूर्वक श्रवणसे अपने अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर चुका है।

अब इस एकत्वदर्शनका फल बताते हैं : **कः मोहः कः शोकः**। अर्थात् उसके शोक-मोह समाप्त हो जाते हैं।

मुह् वैचित्ये। चित्तकी उल्टी स्थितिका नाम मोह है। जो 'मैं' नहीं उसे 'मैं' मानना और जो 'मेरा नहीं' उसे 'मेरा' मानना-यह मोह है। मिथ्या असत्, जड़, प्रतीतिमात्र दृश्यमें सत्ता; चेतनत्व तथा प्रियत्व-बुद्धि करना, नानात्वमें अस्ति, भाति, प्रिय बुद्धि करना, यह मोह है। जो एकत्वका दर्शन करता है उसमें मोह कहाँ रहेगा? अर्थात् नहीं रहेगा। नानात्वमें उसे अस्ति, भाति, प्रियका भ्रम नहीं होगा। सीधा अर्थ यह है कि जो **एकत्वमनुपश्यतः** है उसके लिए जीवन-मरण दोनों ही समान हो जाते हैं। नाम-रूपमें उसका राग नहीं रहता। अतः प्रत्येक नवीन व्यवस्थामें वह भूतकालिक मूल्यांकन नहीं करता और न भविष्यकी चिन्तासे वह वर्तमानको नष्ट करता है। वह यथार्थतः प्रगतिवादी हो जाता है।

वर्तमानको भविष्यमें ले चलनेके आग्रहका नाम 'मोह' है। हमारी युवावस्था बनी रहे, हमारा शरीर रोगी न हो, हमारा धन, मकान, स्वजन सदैव हमारे साथ रहें और अनुकूल बरतते रहें, यानी वर्तमान व्यवस्था आगे भी चलती रहे, यह आग्रह मोहके कारण होता है। देह तथा दैहिक पदार्थोंसे मोह होता है। मोह भविष्यत्-कालसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति है।

इसी प्रकार, भूतकी स्मृतिमें खो जाने तथा भविष्यमें वर्तमानके नष्ट हो जानेके शंकारूपी भयको शोक कहते हैं। जो एकत्वदर्शी हो गया उसे न वर्तमानको भविष्यमें ले जानेका आग्रह है और न भूतकी चिन्तामें वह खोता है। उसके लिए न मोह है, न शोक। वह वर्तमानको ही मधुमय बना लेता है

भविष्यन्नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवातिवर्तते।।

'यह एकत्वदर्शी महापुरुष भविष्यका अनुसन्धान नहीं करता और भूतकालमें जो कुछ हो चुका, उसकी चिन्ता नहीं करता। वह तो वर्तमान क्षणको हँसते हुए-सा बिता देता है।'

वास्तवमें तत्त्वज्ञान 'अभय' प्रदान करता है। इससे उसमें समस्त प्रकारकी दीनता-हीनता समाप्त हो जाती है। शोक, मोह, जुगुप्सा, राग-द्वेष ये सब मूलतः भयजन्य हैं और भय होता है दूसरेकी सत्तासे। एकत्व दर्शनसे जब 'आत्मा ही सर्वभूतोंके रूपोंमें प्रकट हो रहा है' यह बोध होता है तब अभयकी प्रतिष्ठा हो जाती है। वह स्वराट् हो जाता है, अधिपति हो जाता है, ऐसी श्रुति है। तब वह किसका त्याग नहीं कर सकता और किससे द्वेष करेगा?

दृश्य आत्मामें नित्य व्यक्त है और सृष्टिके नित्य परिवर्तनका आत्मा नित्य साक्षी है। तुम जब एक व्यक्ति, एक वस्तु, एक

परिस्थितिको पकड़कर बैठ जाते हो कि यह ऐसा ही बना रहे तब तुम अपने आत्मस्वरूपसे च्युत हो जाते हो। तुम सर्वरूप हो और वस्तुतः सर्वरहित हो। तब शोक-मोह क्यों? तुम तो शोक-मोहसे रहित नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त ब्रह्म हो।

यहाँ या तो सब आपका है या कुछ भी आपका नहीं है, आप ही आप हो। यदि सब आपका है तब घृणा किससे, निन्दा किसकी? आप अपने थूक-बलगमसे घृणा करते हो, मल-मूत्रसे घृणा करते हो, किन्तु कब? तब नहीं जब वह आपके शरीरमें था बल्कि तब जब वह आपसे अलग हो गया। अर्थात् हम 'स्व'-से घृणा नहीं करते, 'पर'से घृणा करते हैं। आप-अपने बच्चोंसे तो प्रेम करते हो लेकिन दूसरोंके बच्चोंसे घृणा करते हो। आप अपने मित्रके दोषोंको सह लेते हो किन्तु शत्रुके उन्हीं दोषोंको नहीं सह सकते! अज्ञानकी यह कैसी विडम्बना है! इसका अर्थ यही है कि जो 'मैं' है या 'मेरा' है वह प्रिय है; जो 'पर' या 'पराया' है वह द्वेष्य हो जाता है। उपनिषद् कहती है यहाँ सब तुम ही तुम हो, ईश्वर ही ईश्वर है, यहाँ अन्य या पराया नहीं है। अतः घृणा मत करो : 'ततो न विजुगुप्सते'। यहाँ कालका परिच्छेद नहीं है। आत्मा कालातीत है, फिर तुम आत्मामें शोक मोह कहाँ? जो चला गया, उसका शोक मत करो। जो है उसे हँसकर बिता दो। जो आयेगा, उसके लिए मोहग्रस्त मत हो। तुम अभयरूप हो; क्योंकि तुम सर्व हो!

●

अष्टम मन्त्र

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥8॥

स=वह; **पर्यगात्** =सर्वव्यापी; **शुक्रम्**=ज्योतिष्मत्; **अकायम्**=अशरीरी; **अव्रणम्**=अक्षत; **अस्नाविरम्** =स्नायु-रहित; **शुद्धम्**=शुद्ध, **अपापविद्धम्**=निष्पाप; **कविः**=सर्वज्ञ; **मनीषी**=मनका शास्ता; **परिभूः**=सर्वोपरि विद्यमान यानी सर्वोत्कृष्ट; **स्वयम्भूः**=स्वयम्भू है। (उसीने); **शाश्वतोभ्यः समाभ्यः**=नित्य संवत्सराख्य प्रजापतियोंके लिए; **याथा-तथ्यतः**=यथायोग्य; **अर्थान्**=कर्तव्य पदार्थोंका; **व्यदधात्**=विभाग किया है।

षष्ठ और सप्तम मन्त्रोंमें जिस आत्माके ज्ञान या आत्मज्ञानकी महिमाका वर्णन किया गया है, अष्टम मन्त्रमें निश्चयकी दृढ़ताके लिए उसके स्वरूपका पुनः वर्णन किया जा रहा है।

'वह सर्वव्यापी, ज्योतिष्मत, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, शुद्ध, निष्पाप, सर्वज्ञ, मनका शास्ता, सर्वोत्कृष्ट, स्वयम्भू है। उसीने संवत्सर नामक प्रजापतियोंको यथायोग्य रीतिसे अर्थोंका (कर्तव्य या पदार्थका) विभाग किया।'

शांकरभाष्यके अनुसार मन्त्रार्थपर विचार :

रागी पुरुषका आग्रह व्यक्तिमें रहता है। वह संसारकी आकृतियोंको, उनके रूप, रंग, स्वाद, स्पर्श, गन्ध आदिकी विशेषताओंको महत्त्व देता है; किन्तु विवेकी-विरक्त पुरुषका

आग्रह व्यक्तिमें नहीं होता। वह वस्तुओंकी पृथक-पृथक विशेषताको महत्त्व नहीं देता। उसकी दृष्टि सर्वानुभूत मूलतत्त्वपर रहती है। भगवान् शंकराचार्यकी दृष्टि आत्मसत्तापर रहे, यह स्वाभाविक ही है। अतः इस मन्त्रमें उसी आत्माका वर्णन है जिसके **एकत्वनुपश्यतः; विजानतः** पुरुषका वर्णन इससे पहलेके सप्तम मन्त्रमें हो चुका है, ऐसा वे मानते हैं।

इस मन्त्रमें सः पुँल्लिंग है; किन्तु **शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्** ये नपुंसकलिंगके शब्द हैं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि विभक्ति-विपर्याय करके इन सबको पुँल्लिंग बना लेना चाहिए। अर्थात् **शुक्रः, अकायः, अव्रणः, अस्नाविरः, शुद्धः, अपापविद्धः**-ऐसा पढ़ना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि इतने सारे शब्दोंके रूप बदलनेके स्थानपर 'स'का ही रूप क्यों न नपुंसक लिंगका 'तत्' कर लिया जाय? उत्तर है कि मन्त्रके उत्तरार्धमें **कविः मनीषी, परिभूः स्वयम्भू** शब्द पुँल्लिंगके हैं, अतः 'सः'का रूप बदलना ठीक नहीं है।

यः आत्मा सर्वाणि भूतानि अभूत् पहले मन्त्रके अनुसार जो आत्मा सर्वभूत हो गया, सः वह आत्मा **पर्यगात्**=सर्वतो अगात् सर्वव्यापी है। 'पर्यगात्'का अर्थ है अधिष्ठानविवर्ती उपादान। जैसे घटका अधिष्ठान मृत्तिका है। अधिष्ठान पृथिवीरूप आधारभूत मृत्तिका नहीं वह मृत्तिका जो घटमें है, घटाकारमें जो दीख रही है; किन्तु घटके बनने तथा फूटनेसे जो अप्रभावित रहती है। इसी प्रकार 'स पर्यगात्' वह आत्मा सर्वव्यापी है। सबका अधिष्ठान है। व्यष्टिका आकार, प्रकार या गुण चाहे जैसा हो, वह कार्यरूप हो या कारण रूप, सबका विवर्ती उपादान वह आत्मा है।

अधिष्ठानका एक अर्थ है अधिक स्थान अथवा 'अधिकृत्य

तिष्ठति' घड़ेमें जो मिट्टी है, वह घड़ेके होनेसे पूर्व भी थी और घड़ेके फूट जानेपर भी रहेगी। कालकी दृष्टिसे मिट्टीका स्थान घड़ेसे अधिक है। घड़ेको अधिकृतकर मिट्टी स्थित है। घड़ेसे भिन्न मिट्टीका सत्ता है, किन्तु मिट्टीसे भिन्न घड़ेकी सत्ता नहीं।

'पर्यगात्' इसमें 'अगात्' शब्द 'गम्ऌ गतौ' धातुसे बना है। यह 'गम्' धातु गति तथा ज्ञान दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होती है। अतः 'पर्यगात्' का अर्थ हुआ सर्वत्र स्थित है, सबका प्रकाशक है, सबसे असंग है और सबका प्राप्तव्य है। व्याप्ति, ज्ञप्ति, प्राप्ति और मुक्ति– ये चार आत्माके नित्य 'लक्षण' हैं। ये आत्माके विशेषण नहीं हैं। लक्षण विशेषण तथा विशेष्यसे तो नित्य सम्बद्ध रहता है, किन्तु वह लक्ष्य पदार्थसे सम्बद्ध रहे, यह आवश्यक नहीं। जैसे : 'चीनी मीठी है' यहाँ 'मीठी' विशेषण है। चीनीमें मिठास सदा रहेगी। लेकिन वृक्षसे दो अंगुल ऊपर चन्द्रमा है, यह चन्द्रमाका सूचक लक्षण है। वृक्षसे दो अंगुल ऊपर होना चन्द्रमासे सम्बद्ध नहीं। परब्रह्म परमात्माके वर्णनमें जो कुछ कहा जाता है, वह सब उसका विशेषण नहीं, लक्षण होता है। 'पर्यगात्'के समान 'शुक्र' आदि भी उस आत्मतत्त्वके लक्षण ही हैं।

शुक्रम्=ज्योतिष्मत्=प्रकाशमय। ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः लेकिन प्रकाशमय कहनेसे इन्द्रियत्वकी प्राप्ति भी सम्भव है; क्योंकि इन्द्रियाँ भी प्रकाशवाली हैं। वे विषयोंको प्रकाशित करती हैं। इस इन्द्रियत्वकी प्राप्तिकी आशंकाका निवारण करनेके लिए **अकायम्** यानी अशरीरी कहा। अकायका अर्थ है कि वह सूक्ष्म-शरीर नहीं है।

अव्रणम् तथा **अस्नाविरम्** द्वारा स्थूलशरीरका निषेध है। 'अस्नाविरम्' उसमें स्नायु नहीं, स्थूल देह नहीं है, अतः वह

अव्रणम् अक्षत है। उसे फोड़ा-फुन्सी, चोट-क्षत आदि होने सम्भव नहीं।

शुद्धम् अविद्यारहितम् क्योंकि आत्मामें अविद्याके अतिरिक्त दूसरा कोई मल सम्भव नहीं है। 'शुद्धं'के द्वारा कारणशरीर लिंगदेहका भी निषेध कर दिया है, क्योंकि अविद्या ही कारणदेह यानी देहका कारण-मूल बीज है।

अपापविद्धम् अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित। कर्तृत्वसे ही पाप होता है और उसका फल भोक्ताको प्राप्त होता है। आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है।

कविः अर्थात् सर्वज्ञ। **कविः क्रान्तदर्शी** जो छिपे हुएको भूत या भविष्यके गर्भमें ढँकेको भी जान ले वह कवि है। 'मनीषी' मनका प्रेरक। **मनसः** मनः=चक्षुषश्चक्षुः। **परिभूः**= सर्वोत्कृष्ट-सबको पराभूत करके सबके ऊपर स्थित। **स्वयम्भूः**= सर्वकारण-कारण, अर्थात् जिसका कोई कारण न हो। स्वयं-प्रकाशका ही यह पर्याय है। 'चित्'का वर्णन करते समय जिसे स्वयंप्रकाश कहते हैं, 'सत्'का वर्णन करते समय उसीको 'स्वयम्भू' कहते हैं। कर्म निमित्तक नहीं, निर्निमित्तक-सर्वरूपेण भासमान स्वयं स्थित।

याथातथ्येन=जो जैसा है, ठीक वैसा ही। **अर्थात्**=कर्तव्य पदार्थोंका, **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**=संवत्सर नामक नित्य प्रजापतियोंके लिए व्यदधात् विधान किया।

वैष्णवचार्योंके अनुसार मन्त्रार्थपर विचार :

मन्त्रका यह अर्थ भगवान् शंकराचार्यके भाष्यके अनुरूप हुआ। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि मन्त्रमें जो नपुंसक शब्द हैं, उन्हें ब्रह्मका वाचक और जो पुंलिंग शब्द हैं, उन्हें सगुण ईश्वरका वाचक

समझकर मन्त्रका अर्थ करना चाहिए। उनके मतके अनुसार इस मन्त्रका अर्थ होगा :

जो **पर्यगात्**=सर्वव्यापक, **शुक्रम्**=ज्योतिष्मत्, **अकायम्**=प्राकृत आकाररहित या निराकार, **अव्रणम्**=अक्षत, निर्विकार; **अस्नाविरम्**=स्नायुहीन, **शुद्धम्**=निर्मल, **अपापविद्धम्** =निष्पाप परब्रह्म परमात्मा है। **सः**=वही, **कविः**=सर्वज्ञ, **मनीषी**=मनोनियन्ता, **परिभूः**=सर्वोत्कृष्ट, **स्वायम्भूः**=स्वतःसिद्ध ईश्वर है। उसी ईश्वरने **अर्थान्** =वेद-ज्ञानको, **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**=संवत्सर नामक प्रजापतिगणको, **व्यदधात्**=विधान या प्रदान किया।

इस प्रकार वैष्णवाचार्य इस मन्त्रमें निर्गुण-सगुण दोनों रूपोंमें ईश्वरका प्रतिपादन तथा श्रुतिने अपौरुषेयता बतलायी गयी है, ऐसा मानते हैं।

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा :

तीसरे प्रकारसे भी मन्त्रका अर्थ किया जा सकता है। इस अर्थमें किसी शब्दका रूप बदलना नहीं पड़ता, यानी विभक्ति विपर्यासकी कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती और न किसी शब्दका खींच-तानकर अर्थ ही करना पड़ता है। यथा :

सः=का अर्थ है वह पूर्व मन्त्रमें वर्णित **विजानतः**, **एकत्वमनुपश्यत**=तत्त्वज्ञपुरुष उसने **शुक्रम्**, **अकायम्**, **अव्रणम्**, **अस्नाविरम्**, **शुद्धम्**, **अपापविद्धम्**=ब्रह्मको **पर्यगात्**= 'अध्यगात्' यानी अधिगत किया-अनुभव किया है। प्रत्यगात्मासे अभिन्नरूपमें ब्रह्मका अपरोक्ष कर लिया।

शुक्रम्=ज्योतिष्मत्, **अकायम्**=सूक्ष्मशरीर-रहित, **अव्रणम्**=निर्विकार, **अस्नाविरम्**=स्थूल शरीर-रहित, **शुद्धम्**=

कारण शरीर-रहित, **अपापविद्धम्** =अकर्ता-अभोक्ता जो परमात्मा है, जिसमें 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' अर्थात् जन्मना, रहना, बढ़ना, विकृत होना-परिणामको प्राप्त होना, क्षीण होना और नाश होना; ये छः विकार नहीं हैं, उसे उस तत्त्वज्ञ पुरुषने 'अध्यगात्' अनुभव कर लिया है। इसलिए वह तत्त्वज्ञ ही 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' है।

ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर।
ब्रह्मज्ञानीको ढूँढ़े महेश्वर।।

-सुखमनी साहब

'कवि' अर्थात् सिद्ध वस्तुका वर्णन करनेवाला। उसके लिए सम्पूर्ण जगत्सृष्टि परमात्माका काव्य बन जाती है। श्रुतिने कहा है-

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अर्थात् परमात्मदेवके इस सृष्टि-प्रसाररूप काव्यको तो देखो जो न मरता, न नष्ट होता और न जीर्ण-पुराना ही पड़ता है।

यह 'कवि' शब्द **कवृ वर्णने** धातुसे बना है। अर्थात् कवि वह है जो वस्तुतथ्यका ठीक-ठीक निरूपण करे। **कविः** क्रान्तदर्शी जिनकी दृष्टि भूत-भविष्य, स्थूल-सूक्ष्म, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टसे अवरुद्ध न हो। सामान्य मनुष्य न तो बहुत पहलेकी बात जानता है और न भविष्यको ही जानता है। वह अत्यन्त सूक्ष्मको भी नहीं देख पाता और अत्यन्त स्थूल पत्थरके भीतर और पीछे क्या है, यह भी नहीं जान पाता। सामान्य मनुष्य नेत्रोंके अत्यन्त सन्निकटकी वस्तु देख नहीं सकता है और बहुत दूरकी वस्तु भी उसे नहीं दीखती। किन्तु जो भूत-भविष्य, स्थूल-सूक्ष्म, निकट-दूरकी बाधाको चीरकर वस्तुसत्य देख लेता है, वही कवि है। अथवा **कं सुखं वाति इति कविः** जो विश्वमें सुखका सौरभ ही फैलाता है,

संसारको आनन्दरूप देखता तथा अमरत्वका सन्देश देता है, वह कवि है।

मनीषी-मनीषा बुद्धिको कहते हैं। जिसके द्वारा मनपर नियन्त्रण रखा जाय, वह मनीषा। उस मनीषासे सम्पन्न व्यक्ति मनीषी है।

मनपर नियन्त्रणके लिए विचार तथा कर्म आवश्यक है। संकल्प-वासना कर्तृत्वपूर्वक नहीं होती। मनमें वासना अपने-आप उठती है; किन्तु विचार और कर्म दोनों कर्तृत्वपूर्वक होते हैं। ये कर्ताके वशमें हैं। **स्मृति मृतिका** ही परोक्षीकरण है। वर्तमानकी मृत्यु ही भूतकी स्मृति है। मनको विचार तथा कर्मके बीच दबाओ। कर्म वासनाके अनुसार नहीं, निश्चयके अनुसार करो। वासना और कर्मका सम्बन्ध काटकर निश्चय और कर्मका सम्बन्ध स्थापित करो। इस प्रकार मनकी वासनापर विजय करके जो विवेकके अनुसार कर्म करे वही मनीषी है।

परिभूः=सबका परिभव करके स्थित। समस्त जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें प्रतीत होनेवाली वस्तुओं एवं स्थितियोंको जिसने बाधित कर दिया है, वही 'परिभूः' है।

स्वयंभूः=स्वयं अपनी सत्तासे ही सत्तावान्। उसकी सत्तामें दूसरा कोई कारण नहीं है। कर्म, प्रारब्ध, प्रयत्न-परिस्थिति आदि कोई उसकी सत्ताका करण नहीं है।

इस प्रकार 'कविः'से सर्वज्ञ, 'मनीषी'से नियन्ता, 'परिभूः'से प्रकृति-परिस्थितिजयी और 'स्वयंभूः'से स्वयं सत्तावान् उस तत्त्वज्ञ पुरुषको ही श्रुतिने बताया है।

इसी तत्त्वज्ञने **शाश्वतीभ्यः समाभ्य**=सनातन कालके लिए **याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्** =कर्तव्योंका ठीक-ठीक विधान

किया है। धर्म और अधर्मका, कर्तव्य-अकर्तव्यका यथातथ्य निश्चय सनातन कालसे इसीने किया है। किस वर्ण, किस आश्रम, किस देश या जातिके किस अधिकारी व्यक्तिके लिए क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका निश्चय सनातन कालसे इसी तत्त्वज्ञ पुरुषने किया है।

वेद-शास्त्रोंमें सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी देश तथा सभी कालके सब प्रकारके अधिकारियोंके लिए कर्तव्य-अकर्तव्यका वर्णन है। उनमें-से अमुक व्यक्तिविशेषके लिए क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य है, इसका जब निश्चय करना हो तो-

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः।।
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते।।

मनुस्मृति (12.113-114)

अर्थात् 'वेदज्ञ ब्राह्मण अकेला भी यानी परिषद्के बिना भी जिसे धर्म निश्चित करे, उसीको श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिए। लाखों मूर्खों द्वारा निश्चित किया गया धर्म भी धर्म नहीं होता।'

सारांश, ब्रह्मचर्यादि व्रत एवं गायत्री आदि मन्त्रोंसे रहित, केवल जातिके नामपर जीविका चलानेवाले सहस्रों ब्राह्मण इकट्ठे हो जायँ तो भी उनकी सभा धर्मनिर्णायक परिषद् नहीं हो सकती।

●

नवम मन्त्र

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः।।9।।

ये=जो मनुष्य, **अविद्याम्** =विद्याकी विरोधिनी अग्निहोत्रादि कर्मरूपा अविद्याकी, **उपासते**=उपासना करते हैं, (वे) **अन्धम्** = अज्ञानात्मक, **तमः**=घोर अन्धकारमें, **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं (और) **ये**=जो मनुष्य, **विद्यायाम्** =देवताज्ञानरूपा विद्यामें, **रताः**=लगे रहते हैं, उसीकी उपासनामें मस्त बन जाते हैं, **ते**=वे, **ततः**=उससे, **उ**=भी, **भूयः इव**=मानो अधिक, अधिकतर, **तमः**=घोर अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं)।

पूर्वमन्त्रोंमें ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानीकी महिमाका निरूपण करके अब यह बतलाना है कि अज्ञानी पुरुष कर्म (अविद्या) और उपासना (विद्या)का समुच्चय अपने चरित्रको पवित्र एवं अन्तःकरणको शुद्ध करके उस ब्रह्मज्ञानका अधिकारी बने। इसी सन्दर्भमें केवल विद्या या केवल अविद्याकी उपासना उसके लिए हानिकारक है, यह इस मन्त्रमें बता रहे हैं।

कुछ टीकाकारोंने सम्भूति-असम्भूतिवाले 12,13,14 मन्त्रोंको पहले रखा और 9,10,11के मन्त्रोंको पीछे रखा है। इस प्रकार शाखा-भेदसे इस उपनिषद्के मन्त्रोंमें इन छः मन्त्रोंका क्रम-भेद पाया जाता है।

मुख्य प्रश्न इस मन्त्रकी व्याख्यामें यह उठता है कि मन्त्रमें आये 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दोंका क्या अर्थ करना चाहिए :

ईशावास्यमिदं सर्वम् मन्त्रमें तथा **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** मन्त्रसे जो उपदेश है कि **यत्किञ्च जगत्यां जगत्** इस सम्पूण प्रपञ्चको ईश्वरसे आच्छादित कर दो, त्यागपूर्वक भोग करो,

परस्वका लोभ मत करो तथा कर्तव्य कर्मका पालन करते हुए ही जीवन व्यतीत करो उसे 'विद्या' कहना चाहिए और इसके विपरीत **ये के चात्महनो जनाः**को अविद्या, तो इसमें दोष यह है कि उपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें **न कर्म लिप्यते नरे** कह आये हैं। अतएव उसी पराविद्याके लिए **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः** यह कहना किसी प्रकार उचित तथा संगत नहीं।

जैसा कि भगवान् शंकराचार्यने माना है तदनुसार पहला मन्त्र **ईशावास्यमिदं सर्वम्** तो विद्या है, उसमें तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन है और **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**में अविद्या है, उसमें कर्मरत संसारी पुरुषके लिए निष्काम कर्मका उपदेश है। ऐसा मानें तो भी यही प्रश्न उठता है कि **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** मन्त्रमें ही जब **न कर्म लिप्यते नरे** उपनिषद्ने कहा, तो उसी पुरुषको अब **अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते** कैसे कहा जा रहा है?

श्रीभास्कराचार्यका मत है कि श्रुति भगवती यहाँ ज्ञान-कर्म-समुच्चयका प्रतिपादन करती हैं। पूरे उपनिषद्में जो वर्णन है; वह विद्या और उससे भिन्न लौकिक कर्म अविद्या-दोनोंका समुच्चय यहाँ श्रुतिको इष्ट है। लेकिन ऐसा समुच्चय सम्भव है या नहीं, यह भी देख लेना आवश्यक है।

यहीं यह भी समझ लेना चाहिए कि समन्वय तथा समुच्चयमें क्या भेद है? समन्वयका अर्थ है एकके पश्चात् एक जो परस्पर सम्बद्ध एक दूसरेके पूरक हों। 'समुच्चय'का अर्थ है युगपत्-एक साथ रहना या होना। इस प्रकार एक साथ ज्ञान तथा कर्मका होना सम्भव नहीं है।

ज्ञानमें दो विभाग हैं, प्रपञ्चका ज्ञान और परमात्माका ज्ञान। ऐन्द्रियक ज्ञान तथा आत्मज्ञान। इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है, वह

इच्छा तथा प्रयत्नका जनक होता है। जैसे हमने पुष्पको नेत्रके द्वारा देखा। पुष्प प्रिय लगेगा या अप्रिय लगेगा। यदि प्रिय लगेगा तो पानेकी और अप्रिय लगेगा तो हटा देनेकी इच्छा होगी। फिर पाने या हटानेके लिए प्रयत्न होगा।

ज्ञान जब अन्यके रूपमें होता है, अन्यका ज्ञान होता है, तब वह अन्य इष्ट या अनिष्ट होगा। इसलिए वह इष्टकी प्राप्ति अथवा अनिष्टके परिहारकी इच्छा तथा प्रयत्नका जनक होगा। यह ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष ऐन्द्रियक ज्ञानके रूपमें हो अथवा परोक्ष देवता-ज्ञानके रूपमें। जैसे शास्त्र या सत्पुरुषसे पढ़-सुनकर देवताके स्वरूपका ज्ञान हुआ। इस परोक्ष ज्ञानसे देवताकी प्राप्तिकी इच्छा तथा उसके लिए प्रयत्न होगा। यदि ज्ञान अन्यविषयक न होकर स्वविषयक हो, तो भी वह कैसा है, यह देखना होगा। स्वविषयक ज्ञान यदि कर्ता-भोक्ताके रूपमें है, यदि यह जाना गया है कि 'मैं' कर्ता-भोक्ता हूँ तो यह ज्ञान कर्म एवं उपासनामें लगानेवाला होगा। 'मैं कर्मेन्द्रियोंवाला हूँ' यह ज्ञान अपने कर्ता-स्वरूपका ज्ञान है और 'मैं ज्ञानेन्द्रियोंवाला हूँ' यह ज्ञान अपने भोक्ता-स्वरूपका ज्ञान है। इस प्रकार सविशेष कर्ताका ज्ञान कर्ममें लगानेवाला होता है। इस लोकमें भोगोंकी प्राप्तिके लिए कर्म तथा परलोकमें भोग-प्राप्ति या देवताका सान्निध्य पानेके लिए धर्म या उपासनामें यह ज्ञान लगाता है। तात्पर्य यह कि सविशेषका ज्ञान चाहे वह अन्यविषयक हो या स्वविषयक, इच्छा तथा प्रयत्नका जनक है। वह कर्ममें लगाता है।

निर्विशेषका ज्ञान इच्छा-प्रयत्नका जनक नहीं है। अपना स्वरूप जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंसे विलक्षण साक्षात् अपरोक्ष है, उसका अकर्ता, अभोक्ता, अपरिच्छिन्न रूपमें ज्ञान किसी प्रेरणा तथा प्रयत्नका जनक नहीं है। यह तत्त्वज्ञान वैराग्यका भी जनक नहीं है।

अन्यके ज्ञानसे ही वैराग्य होता है। अतः सविशेषका ज्ञान ही वैराग्यका जनक है। अन्य सविशेष है तो उसका ज्ञान दुष्ट या शिष्ट रूपमें होगा। इस ज्ञानसे दुष्टसे वैराग्य तथा शिष्टसे राग होगा। अपने अकर्ता-अभोक्ता स्वरूपका ज्ञान वैराग्यका जनक नहीं है; क्योंकि जब सब अपना ही स्वरूप है तो वैराग्य किससे होगा? अपनेसे भिन्न सत्ता ही नहीं तो पाने या त्यागनेकी इच्छा एवं प्रयत्न कैसे होगा? अतएव इस अद्वय ज्ञानसे इच्छा मूलक प्रयत्नका समुच्चय सम्भव नहीं है।

ऐन्द्रियक ज्ञान विषयकी ओर ले जाता है; किन्तु आत्मज्ञान प्रवर्तक-निवर्तक नहीं है। यह प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धिसे होनेवाला ज्ञान नहीं है। यह शब्द-ज्ञान, महावाक्यजन्य ज्ञान है।

वाक्यजन्य ज्ञान क्या है? इसे इस प्रकार समझो कि हम एक व्यक्तिका नाम जानते हैं; किन्तु उससे कभी मिले नहीं हैं। उसे पहचानते नहीं हैं। वह हमारे सामने ही बैठा है; किन्तु हमें उसका परिचय ज्ञात नहीं है। अब किसीने बता दिया कि यह अमुक व्यक्ति है और हमने उसे पहचान लिया। वह व्यक्ति तो प्रत्यक्ष था ही, दूसरेके बतानेसे उसका अपरोक्ष हो गया। इसी प्रकार देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वरूपमें, सर्वत्र जो भासमान है महावाक्य द्वारा ज्ञात हुआ कि वह अपना स्वरूप अपना आत्मा ही है।

इस प्रकार वाक्यज्ञान प्रत्यक्षका ही अपरोक्ष कराता है। अपना आपा घट-पट-पुष्प आदिके समान प्रत्यक्ष नहीं है और स्वर्गके समान परोक्ष भी नहीं है। वह तो अपरोक्ष है, किन्तु अपरोक्ष होते हुए भी जब उसका ज्ञान नहीं है, तब एकमात्र वाक्य ही उसमें प्रमाणबोधक हो सकता है। यह बोधक वाक्य चाहे जिस भाषाका

हो; किन्तु होगा महावाक्यका ही पर्यायवाची। आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ही सूचक वह होगा। महावाक्यका तात्पर्य ही उसके द्वारा ध्वनित होगा।

विषयके ज्ञानमें इन्द्रियाँ करण होती हैं, ऐन्द्रियक उपलब्धि कारण है और फल है तदाकारता-विषयाकार चित्तवृत्ति, किन्तु आत्मज्ञानमें महावाक्य हेतु है तथा फल है अपरोक्ष आत्मा। जो स्वयं प्रकाश, सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान है, उसे न नेत्र देख सकते, न कान सुन सकता, न नासिका सूँघ सकती, न जिह्वा उसे चख सकती और न त्वचा उसका स्पर्श कर सकती है। हाथ उसे पकड़ नहीं सकते, पैर उसतक पहुँचा नहीं सकते। इन्द्रियाँ न पृथक्-पृथक् उसका ग्रहण कर सकती हैं और न एक साथ मिलकर ही। मनसे वह ग्राह्य नहीं, बुद्धिका विषय वह नहीं होता। ये जितने करण हैं-बहिःकरण तथा अन्तःकरण दोनों उसके ज्ञानके लिए अपर्याप्त हैं। इनके द्वारा परिच्छिन्नका ही ज्ञान होता है। अतः ऐन्द्रियक परिच्छिन्नके ज्ञानसे अपरिच्छिन्न आत्म-तत्त्वके ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता।

कर्ता-भोक्तापनके ज्ञानका कर्मके साथ सम्बन्ध है। आत्माको जब कर्ता-भोक्ता मानते हैं, तब किस कर्मके करनेसे अच्छे-उत्तम भोग मिलेंगे, लोकमें सुख-समृद्धि, सफलता-सुयश होगा तथा परलोकमें सद्गति होगी, यह जानना तथा करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार देवताके स्वरूप-ज्ञानका कर्मके साथ सम्बन्ध है। देवता सुन्दर, दयालु तथा अपनेको प्रिय लगा तो उसकी कृपा-प्राप्तिके लिए अर्चन-पूजन, यज्ञ-धर्मानुष्ठान, उपासना आदि होगी। लेकिन निर्गुण, निर्विकार, सर्वगत, सर्व-प्रकाशक आत्माके ज्ञानके साथ कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आत्मज्ञानके साथ कर्मका समुच्चय नहीं हो सकता।

ऐसी अवस्थामें मन्त्रका ठीक तात्पर्य जाननेके लिए यह ढूँढ़ना चाहिए कि यह बात श्रुतिमें और भी कहीं आयी है या नहीं। इस खोजमें हम पाते हैं कि यह मन्त्र ज्यों-का-त्यों बृहदारण्यक उपनिषद्में आया है। बृहदारण्यक उसी शुक्ल यजुर्वेदीय संहिताका ब्राह्मण ग्रन्थ है, जिस संहिताका यह 'ईशावास्योपनिषद्' है। काण्व-शाखाका इस उपनिषद्को मानें तो उस शाखाके भी ब्राह्मणमें बृहदारण्यक है और उसमें भी यह मन्त्र है। वहाँ यह मन्त्र जिस अर्थमें आया है, उसी अर्थमें इस स्थानपर भी मन्त्रका ग्रहण करना उचित होगा।

बृहदारण्यक उपनिषद्में यह मन्त्र 'सप्तान्न ब्राह्मण'में आया है। वहाँ बताया गया है कि कर्म द्वारा पितृलोक तथा उपासना (देवताविद्या)के द्वारा देवलोककी प्राप्ति होती है। कर्म अविद्या है और उपासना विद्या है। अतएव इस मन्त्रका अर्थ ब्रह्मज्ञान तथा कर्मके समुच्चयकी दृष्टिसे नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐक्यके ज्ञानसे उपासना नहीं होती। उपासना भेदज्ञानपूर्वक होती है। आराध्य-आराधनाका भेद रहेगा, तभी उपासना होगी। 'सप्तान्न ब्राह्मण'में वहाँ बताया गया है कि सब अन्न-मनुष्योंका पोषक, देवताओंका पोषक, पितरोंका पोषक-सब कर्मसे प्राप्त होते हैं। लेकिन 'ईशावास्यमिदं सर्वं'में वर्णित तत्त्व तो कर्मसे प्राप्त होनेवाला नहीं है। अतः इस मन्त्रका अर्थ उपासना तथा कर्मके समुच्चयकी दृष्टिसे होना चाहिए।

जो अन्य देशमें, अन्य कालमें रहता है, उसके साथ कर्मका सम्बन्ध है। इस प्रकार देवताज्ञानके साथ कर्मका सम्बन्ध है। अप्राप्तका प्रापक कर्म है और नित्यप्राप्तका बोधक ज्ञान है।

उपासनाके साथ कर्मका सम्बन्ध कैसा है, यह भी समझने योग्य है। एक कथावाचक कथामें कह रहे थे-'भगवान् देवकीके

गर्भमें नहीं आये। गर्भमें तो जीव आता है। भगवान् प्रकट हुए।' मैंने देखा कि श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हँस रहे हैं। कथा-समाप्तिपर मैंने उनसे हँसनेका कारण पूछा तो बोले-'भगवान् गर्भमें नहीं आये तो गर्भमें था कौन? उन सर्वव्यापीसे गर्भ कभी रिक्त भी था क्या?'

इसी प्रकार एक परिचितने पत्र लिखकर मुझसे पूछा : 'भगवान् जब गोलोकसे व्रजमें आगये तो गोलोक सूना हो गया या नहीं?' इसका उत्तर है : 'गोलोक ही पृथिवीपर आ गया।' यह गोलोक, बैकुण्ठ, साकेत आदि नित्यधाम सर्वव्यापी हैं। उनमें आना-जाना नहीं है। वे सूक्ष्मसे स्थूल भी नहीं होते। भगवान् आये या भगवान् प्रकट हुए-का यह अर्थ नहीं कि किसी अन्य देशसे भगवान् अन्य देशमें आये अथवा सूक्ष्मसे स्थूल रूपमें प्रकट हो गये। भगवान् तथा भगवान्‌के धाम तो सर्वकालमें सर्वदेशमें हैं। पर्दा तुम्हारे नेत्रोंपर पड़ा है। वह पर्दा दूर हुआ और दर्शन होने लगा। पर्दा दूर हो, इसके लिए साधनभक्तिरूप कर्म-'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन' आदि हैं। इस प्रकार उपासनासे कर्मका समुच्चय है।

यह जीवन ही कर्म-ज्ञानका समुच्चय है। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझो। एक सेठजी एक महात्माके दर्शन करने गये। अपने साथ वे फूलोंका एक गुलदस्ता ले गये थे, जिसे उन्होंने महात्माको भेंट कर दिया। महात्माने गुलदस्ता उठाया और उसे देखनेमें तल्लीन हो गये। सेठजी प्रतीक्षा करते रहे कि महात्मा उनकी ओर भी देखेंगे; किन्तु जब बहुत देर हो गयी, तब बोले : 'भगवन्' मैंने गुलदस्ता लाकर भूल की। इससे अच्छा था कि मैं इसे न लाता। तब आप मेरी ओर दृष्टि तो डालते।'

महात्मा बोले : 'लो, इसे फेंक देते हैं।'

सेठने हड़बड़ाकर हाथ जोड़े : 'भगवन्! कृपा करके इसे फेंकिये मत। मैं बड़ी श्रद्धासे इसे ले आया हूँ।'

महात्माने पूछा : 'तुम न इसे देखने देते हो, न फेंकने देते हो, फिर तुम चाहते क्या हो?'

सेठ बोले : 'भगवन् , मैं चाहता हूँ कि आप इसके साथ ही मेरी ओर भी देखें और मुझे भी देखें।

यह संसार ईश्वरका गुलदस्ता है और सेठ स्वयं ईश्वर है। तुम अपनेको ही महात्मा मान लो। ईश्वर चाहता है कि तुम केवल गुलदस्ता देखनेमें ही मत लगे रहो, उसकी ओर भी देखो। साथ ही उसके गुलदस्तेको फेंक भी मत दो। इसी प्रकारका तात्पर्य इस मन्त्रका उब्बट तथा महीधर भाष्यकारोंने निकाला है।

अविद्या है कर्मेन्द्रिय तथा विद्या है ज्ञानेन्द्रिय, यह सीधा अर्थ है। इन दोनोंका समुच्चय जीवन है। नेत्रोंसे देखो और पैरसे चलो, यह विद्या और अविद्याका समुच्चय हुआ। इसे 'अन्ध-पंगु न्याय' कहते हैं। किसी गाँवमें एक अन्धा और एक पंगु रहता था। गाँवपर डाकुओंने आक्रमण कर दिया। दूसरे सब लोग तो भाग गये; किन्तु वह अन्धा और वह पंगु भाग न सके। वे चीखते-चिल्लाते रहे कि हमें भी कोई ले चलो। अचानक किसी बुद्धिमान् की दृष्टि उनपर पड़ी तो उसने सलाह दी : 'तुम परस्पर एक दूसरेकी सहायता कर लो।' उसकी सलाह मानकर अन्धेने पंगुको अपनेपर बैठा लिया। अन्धेको पंगु रास्ता बताने लगा। इस प्रकार वे दूसरे स्थानपर पहुँच गये।

हमारा यह जीवन ही अन्ध-पंगुन्यायसे चल रहा है। अन्धेके कन्धेपर पंगु बैठा है। कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं, वे विषयको प्रकाशित नहीं कर सकतीं और ज्ञानेन्द्रियाँ पंगु हैं, वे स्वयं विषयतक नहीं

पहुँचतीं। कर्मेन्द्रियाँ मजदूर हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ क्लर्ककी भाँति हैं, मन सचिव है और जीव विभागाध्यक्ष। प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् एक-एक कार्यालय चल रहा है। इन सब शरीरोंका स्वामी ईश्वर है। लेकिन जो सबमें एकरस परिपूर्ण; सर्वाधिष्ठान चित् है, वह ब्रह्म है। कर्मेन्द्रियाँ कुछ न कर सकें, यदि उन्हें ज्ञानेन्द्रियोंका सहयोग प्राप्त न हो! नेत्र मार्ग न दिखायें और त्वचा तथा कर्ण भी कुछ न बतावें तो पैर कहाँ जायेंगे-गति कैसे बनेगी। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ सहयोग न दें तो नेत्र, श्रवण, त्वचा, नासिकाको अत्यल्प भोग मिलेंगे और रसनाको तो कुछ भी नहीं मिलेगा। इसलिए जीवनका सम्यक् निर्वाह करनेके लिए कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियका समुच्चय आवश्यक है।

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

जो अविद्याकी उपासना करते हैं, कर्मेन्द्रियों द्वारा होनेवाले कर्ममें ही रत हैं, वे कर्मवादी कर्ममें ही आस्था रखनेवाले '**अन्धन्तमः**' घोर अन्धकारमें गिरते हैं; क्योंकि कर्म जड़ है, अतः कर्तृत्वका अहंकार जड़ताकी प्राप्तिका हेतु होता है।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया्ँ रताः।

मानो उन कर्मासक्त लोगोंसे भी अधिक अन्धकारमें वे लोग हैं जो विद्यामें-ज्ञानेन्द्रियोंके भोगोंमें अथवा इन्द्रादि देवताओंकी उपासना-विद्यामें लगे हैं।

जीवन न कर्मप्रधान होना चाहिए, न भोगप्रधान। जीवनमें कर्म तथा भोगका उचित समन्वय होना चाहिए। जो निरन्तर जप, ध्यानादिमें ही लगे रहते हैं, वे भी शिष्ट समुदायसे वंचित हो जाते हैं। मनोराज्यमें ही वे लगे रहते हैं।

इन्द्रियज्ञान भी देवताज्ञान ही है। सूर्यकी सहायतासे नेत्र देखते हैं, अश्विनीकुमारकी सहायतासे नाक सूँघती है। दिक् देवताकी

सहायतासे कान सुनते हैं, वायु देवताकी सहायतासे त्वचा स्पर्श करती है, वरुणदेवकी सहायतासे जिह्वा रस लेती है। इन्द्रकी सहायतासे पैर चलते हैं। इसी प्रकार मन चन्द्रमाकी सहायतासे संकल्प-विकल्प करता है। सभी अन्तः एवं बहिःकरण देवताओंकी सहायतासे ही कार्यरत होते हैं। नेत्र, श्रवण, हाथ, पैर आदि सूर्य, दिक्, इन्द्र, विष्णु प्रभृति देवताओंके आधिभौतिक रूप हैं। आध्यात्मिक रूप उनका है दृष्टि, श्रवणशक्ति, बल, गति और आधिदैविक रूपमें वे सूर्य, दिक्, इन्द्र, विष्णु आदि हैं। अतः ऐन्द्रियक ज्ञान भी देवताओं द्वारा प्रदत्त ज्ञान-देवताविद्या ही है।

जो अविद्यामें-कर्ममें ही लगा है, सम्भव है कि उसे अपनी विफलतासे अपनी भूलमें विपक्षके प्रबल आघातसे ऐसी चोट कभी लगे कि वह उस ठोकरसे कर्मकी निःसारताकी ओर ध्यान दे। उसे कर्मसे वैराग्य हो जाय और वह वस्तुतथ्यको जाननेकी इच्छा करने लगे; किन्तु जो भोगमें आसक्त है, जिसमें भोगसुखकी आसक्ति है, उसका वहाँसे छूटना बहुत कठिन है। अतः 'ततो भूय इव ते तमो' उनके लिए श्रुतिने बताया।

जो कर्मठ है, वह तो फिर भी कम अन्धकारमें है। वे अधिक अन्धकारमें हैं जो इन्द्रादि देवताओंकी उपासनामें लगे हैं। इस उपासनासे उन्हें स्वर्ग मिलेगा। स्वर्गमें पीनेको अमृत, भोगको अप्सराएँ, गन्धर्वोंका संगीत आदि उन्हें जब प्राप्त होगा तो उस भोगसे क्या उन्हें वैराग्य हो सकता है? यह भोग तो उन्हें अधिक प्रवृत्तिकी ओर प्रेरित करेगा। अतः उन्हें अधिक अन्धकारमें श्रुतिने बतलाया।

हमने देखा है कि जो लोग भूत-प्रेत अथवा देवताओंकी आराधनामें लगते हैं, उनका जीवन नष्टप्राय हो जाता है। वे

देवशक्तिका, देवप्रेरणा (इलहाम)का इतना भरोसा करने लगते हैं कि उनमें आत्मशक्तिका लोप ही हो जाता है। वे सर्वथा दास बन जाते हैं। उनका जीवन पराधीन हो जाता है।

अतएव श्रुतिका तात्पर्य यहाँ यह है कि केवल कर्म अथवा केवल उपासना, केवल मनोराज्यमें मत फँसो। दोनोंका सामञ्जस्य जीवनमें बनाओ। अथवा दोनोंसे ही विलक्षण ब्रह्मको-अपने आत्मस्वरूपको पहचानो।

ईशावास्यमिदं सर्वम् इस प्रथम मन्त्रकी व्याख्या **सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्** इस आठवें मन्त्रतक हुई है। अब इस नवम मन्त्रसे **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** इस द्वितीय मन्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ हुई है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'-इस द्वितीय मन्त्रमें धर्म पुरुषार्थका वर्णन है, यह पहले बता आये हैं। वह धर्मानुष्ठान स्थूलदृष्टिसे केवल कर्म (अविद्या) बनकर न रह जाय, यह बात यहाँ समझायी जा रही है।

जो अविद्यामें रत हैं अर्थात् कर्मरत हैं, वे 'अन्धन्तम'को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य है कि निरन्तर कर्म तो कोई करता रह नहीं सकता। कर्मसे श्रान्ति-थकावट होती है। थककर वह कर्माश्रयत्व-रूप जड़द्रव्यको-जड़त्वको प्राप्त करता है। उसे अविनाशी सत्, सर्वात्मज्ञानरूप चित् तथा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती।

जो विद्यामें अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन ज्ञानेन्द्रियोंके भोगमें अथवा मनके विषय संकल्प-विकल्परूप मनोराज्यमें अथवा बुद्धिके विषय तर्क-वितर्कमें लगे हैं, वे उन अविद्यामें लगे लोगोंसे भी अधिक अन्धकारमें हैं। क्योंकि वे विषयमें लीन हैं। उनका लय विषयमें होता है। जो कर्माश्रयरूप जड़ द्रव्यमें लीन हैं, उन्हें कर्मसे विराग हो सकता है। जड़ता किसीको

प्रिय नहीं है, अतः कर्मके द्वारा जड़त्व-प्राप्तिसे उपरत होनेकी सम्भावना उनके सम्बन्धमें है; किन्तु विषयभूत द्रव्यमें जो रत हैं, उन्हें तो इहलौकिक ऐन्द्रियक सुख तथा स्वर्गसे ब्रह्मलोकतक मिलनेवाले सुखमें आसक्ति होती है। उनकी वासनाका मिटना बहुत ही कठिन है। अतएव वे अधिक अन्धकारमें कहे गये हैं।

अविद्यामें जो रत हैं, उनका लय कर्ममें नहीं कर्माश्रयरूप द्रव्यमें, जड़में होता है। इसलिए उनका उत्थान है; क्योंकि जड़ताकी प्राप्तिसे प्राणीकी सहज अरुचि है।

विद्या कारणद्रव्य-विषयमें आसक्ति है। विषयमें सत्ता है; प्रियता है; किन्तु प्रकाशकत्व नहीं है। लेकिन इन्द्रियोंमें सत्ता, प्रियता, प्रकाशकत्व तीनों हैं। इन्द्रिय हमें प्रिय हैं। हम नेत्रका फूटना पसन्द नहीं करते। विषयमें लीन होनेसे प्रकाशकत्वका लय होता है; किन्तु प्रियता वहाँ रहती है, अतः उससे वैराग्य नहीं होता। विषयमें इन्द्रियका लय होना चेतना खो देता है। विषयमें सुखबुद्धि होती है, उससे राग उत्पन्न होता है, रागसे चिन्तन होता है। चिन्तनसे पुनः विषय-प्रवृत्ति होती है। रसानुभूतिमें लय होकर उत्थित होनेपर फिर उसी रसकी स्मृति होनेसे राग उत्पन्न होता है।

इस लोकके ऐन्द्रियक भोग तथा स्वर्गादिके सुख सब विषय ही हैं। इस विषयमें जो रत है, उसका राग निवृत्त होनेके स्थानपर बढ़ता ही जाता है। अतः वह पुनः-पुनः उसीके लिए यत्नवान् रहता है। वह अधिक अन्धकारमें, अविद्याके मोहजालमें जकड़ा है।

●

दशम मन्त्र

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।10।।

(शास्त्र) **विद्यया**=देवता-विज्ञानरूप उपासनासे, **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **देवलोक**-प्राप्ति, **आहुः**=बतलाते हैं (और) **अविद्यया**=कर्मोंके अनुष्ठानसे, **अन्यत्**=दूसरा, पितृलोक-प्राप्ति (तथा अन्तःकरण शुद्धि भी) **आहुः**=बतलाते हैं, **इति**=इस प्रकार (हमने) **धीराणाम्**=बुद्धिमान् धीर पुरुषोंके, **शुश्रुम**=विधिपूर्वक वचन सुने हैं, **ये**=जिन्होंने, **नः**=हमें, **तत्**=उसकर्म और ज्ञानकी, **विचचक्षिरे**=भलीभाँति व्याख्या करके बतलायी है।

केवल कर्मरूप अविद्या और केवल उपासनारूप विद्याके पृथक्-पृथक् फल पिछले मन्त्रमें बताये गये। अब इस मन्त्रमें यह बताया जा रहा है कि विद्या और अविद्याकी उपासनाओंके जो फल हमने बताये वे हमारी अपनी कल्पना-प्रसूत नहीं, प्रत्युत अनादि सम्प्रदाय-परम्परा द्वारा प्रमाणित है।

विद्याका फल दूसरा है-ऐन्द्रियक विषय-भोग तथा स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति। अविद्याका फल दूसरा है-कर्माश्रयरूप जड़द्रव्यकी प्राप्ति। सीधे शब्दोंमें अविद्या या कर्मका फल है लौकिक अभ्युदय, सांसारिक पदार्थोंकी, यशकी प्राप्ति और विद्या या भावनापूर्वक उपासनाका फल है, स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्तकी प्राप्ति।

यह हमने 'धीर पुरुषों'से सुना है। यहाँ धीर पुरुषसे सुननेका वर्णन श्रुतिमें होनेसे श्रुतिपर पौरुषेयताका आरोप नहीं होता। 'धीर पुरुष' यह व्यक्तिका वर्णन नहीं है। यहाँ तो प्रतिपादित विषयमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए लोकप्रथाका अनुवादमात्र है। जैसे लोकमें बुद्धिमान्-आप्त पुरुषकी बात प्रमाण मानी जाती है, वैसे ही श्रुति कहती है कि यह धीर पुरुषोंसे सुनी बात है अर्थात् अत्यन्त विश्वसनीय बात है। धीर पुरुषोंकी अनादि अनुभव-परम्परासे यह बात आयी है।

धीराणाम्=धीमान् ही धीर है। तत्पदार्थ, त्वं पदार्थ तथा अहंमें जो एक अखण्ड तत्त्व है, उन्हें धारण करनेवाली बुद्धिका नाम 'धी' है। ऐसी 'धी' जिनकी है, वे धीर पुरुष हैं।

'धियं राति' अथवा 'धियं ईरयति इति धीरः'-परमात्मा। जिसके लिए कहा गया है : **धियो यो नः प्रचोदयात्।**

'धीराणाम् ' यहाँ बहुवचन है। इसका तात्पर्य है कि उपासना करके जो पुरुष परमात्मासे अभेद प्राप्त कर चुके हैं, वे धीरपुरुष हैं।

सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, यश-अयश आदि द्वन्द्वोंमें जो समान रहते हैं, वे धीर हैं।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

-कालिदास

'विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तमें विकृति नहीं आती, वे पुरुष धीर हैं।'

इस प्रकार कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी तीनों ही धीर कहे गये हैं। उन सब धीर पुरुषोंका यह अनुभव है।

उन्होंने कैसा जाना? इसका उत्तर है-ये **नस्ताद्विचचक्षिरे।**

जिन्होंने उसे देखा-साक्षात् किया है। 'चक्षिऽङ्' धातुसे यह 'विचचक्षिरे' बना है। इसी धातुसे 'चक्षु' बनता है और इसीसे 'आचष्टे' शब्द भी बनता है। इस धातुका अर्थ देखना और बोलना दोनों है। अतः उन धीर पुरुषोंने हमारे लिए उसका निरूपण किया- यह अर्थ और उन्होंने सत्यको देखा-उसका स्वयं अनुभव किया है, यह अर्थ भी है।

अनुभवी आत्मदर्शी पुरुष इसका वक्ता है। हमने सुना शुश्रुम=विधिपूर्वक श्रवण किया है। अतः यह श्रौत आदर्शके अनुरूप वक्ता द्वारा उपदिष्ट आदर्श श्रोताको विधिपूर्वक प्राप्त ज्ञान है। इसमें भ्रम, प्रमाद आदि कोई दोष नहीं है।

●

एकादश मन्त्र

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय्ँसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।11।।

य:=जो मनुष्य, **विद्याम् च**=देवता-ज्ञानरूपा विद्या यानी उपासनाको, **अविद्याम् च**=और कर्मके अनुष्ठानरूपा अविद्याको, **तत् उभयम्** =उन दोनोंको, **सह**=साथ-साथ, समुच्चय रूपमें, **वेद**=जानता है, दोनोंका अनुष्ठान करता है, (वह) **अविद्यया**= कर्मके अनुष्ठानसे, **मृत्युम्** =मृत्युको, स्वाभाविक कर्म और ज्ञानको, **तीर्त्वा**=पारकर, अतिक्रमण कर, **विद्यया**=देवता-ज्ञानके अनुष्ठानसे, **अमृतम्** =अमृतको देवात्मभावको, **अश्नुते**=भोगता, प्राप्त करता है।

विद्या और अविद्याकी पृथक्-पृथक् उपासनाको दोष बताकर अब इस मन्त्र द्वारा दोनोंके समुच्चित अनुष्ठानका फल बतलाते हुए उसकी प्रशस्तता सिद्ध करते हैं।

वेद='उपास्ते' अर्थात् जो विद्या और अविद्या दोनोंकी साथ-साथ उपासना करता है यानी न तो केवल कर्ममें रत है, न केवल भोगमें; दोनोंका समुच्चय रखता है। जीवनमें प्रवृत्ति, ज्ञान तथा इच्छाका सामञ्जस्य बनाये रहता है। वह अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमृतत्वका उपभोग करता है।

अविद्या प्रवृत्ति है और विद्या प्रत्यक्ष (ऐन्द्रियक ज्ञान) विषय, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि। ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष विषय हैं, बौद्धप्रत्यक्ष तथा श्रद्धायुक्त बौद्धप्रत्यक्ष अर्थात् मानसप्रत्यक्ष-ये सब विद्या हैं। इन दोनोंको व्यवहारमें साथ रहने दो। केवल जड़ कर्मवादी मत बनो और केवल मनोराज्य करनेवाले, कल्पनामें ही

निमग्न भी मत रहो। कर्म तथा भावनाका सामञ्जस्य जीवनमें रखो। भोग और कर्म दोनोंको अपनाओ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा-अविद्यासे मृत्युको पार करना है। अविद्या अर्थात् कर्म तमोगुणका नाशक है। आलस्य और प्रमाद ही मृत्यु हैं। सनत्सुजातीयमें कहा गया है-

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि

भोगासक्तिमें प्रमाद है। कर्मके द्वारा इस प्रमादको जीतना चाहिए। आलस्य-प्रमादको जीत लिया तो मृत्युको जीत लिया, क्योंकि मृत्यु होती है जड़ देहकी। कर्मठ व्यक्ति कर्मफलको देहनाशके पश्चात् भी मानता है। इस प्रकार देहदृष्टि-मृत्युभयसे वह पार हो जाता है।

विद्ययाऽमृतमश्नुते-विद्यासे अमृतत्वकी उपलब्धि करता है। ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा बुद्धिका उपयोग करके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धिके द्वारा अमृतकी-अविनश्वर पदकी वह खोज करता है। नेत्र, श्रवण, त्वचा, रसना, नासिकासे तो अमृतत्वकी खोज सम्भव नहीं है और न मन तथा बुद्धिसे ही सम्भव है; किन्तु इनके द्वारा जो कुछ उपलब्ध हो रहा है, वह सब नश्वर है, यह निश्चय हो जाता है। सदसद्विवेकके द्वारा विषयोंमें वैराग्य होता है। इस प्रकार विद्या अमृतत्वकी प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन न होनेपर भी परम्परासाधन है। इसके द्वारा वह अमृतत्वकी ओर बढ़ता है।

अविद्या अर्थात् कर्मसे चरित्रकी शुद्धि और विद्या अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा बुद्धिकी वृत्तियोंसे सदसद्विवेक, उपासना, श्रवण, मनन आदिके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिकी उपलब्धि करके अमृतत्वकी ओर बढ़ता है। चरित्र-शुद्धि तथा अन्तःकरणशुद्धि होनेपर ज्ञानोपलब्धि होती है।

अविद्या अर्थात् लौकिक कर्ममात्र तथा विद्या अर्थात् संसारके विषयोंसे लेकर ब्रह्मलोकतकके भोग, विषयासक्तिसे लेकर समाधि तककी अवस्था। इन दोनों अविद्या और विद्याका जब ठीक सामञ्जस्य होता है तो चरित्र तथा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। मृत्युका भय-देहासक्ति अविद्यासे दूर हो जाती है और अमृतत्वकी ओर वह बढ़ जाता है।

ईशावास्यमिदं सर्वम्, न कर्म लिप्यते नरे, अनेजदेकम्, तदेजति तन्नैजति, स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् आदि मन्त्रोंमें जिस परमात्मतत्त्वका प्रतिपादन किया गया है, उस परमात्माकी प्राप्तिके योग्य मनुष्य कैसे बने, यही बात 'विद्या-अविद्या' तथा 'सम्भूति-असम्भूति'के वर्णनसे छः मन्त्रोंमें कही गयी हैं।

पूर्वके तीन मन्त्रोंमें कर्म और उपासनाका समुच्चय बताकर अब अगले तीन मन्त्रोंमें पदार्थशोधनकी योग्यताकी वृद्धिके लिए कार्यब्रह्म एवं कारणब्रह्मरूप उपासनाके विषयका समुच्चय प्रतिपादन करते हैं।

द्वादश मन्त्र

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः॥12॥

ये=जो मानव, **असम्भूतिम्**=अव्याकृतात्मा प्रकृति या कारण ब्रह्मकी, **उपासते**=उपासना करते हैं (ते=वे), **अन्धम्**=अज्ञानरूप **तमः**=घोर अन्धकारमें, **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं (और) **ये**=जो, **सम्भूत्याम्**=हिरण्यगर्भनामक कार्यब्रह्ममें, **रताः**=रत रहते हैं, उन्हींकी उपासना करते हैं, **ते**=वे, **ततः**=उनसे, **उ**=भी, **भूयः इव**=मानो अधिक, अधिकतर, **तमः**=घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

'वे अन्धन्तममें प्रवेश करते हैं, जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं और उससे अधिक अन्धकारमें वे हैं जो सम्भूतिमें रत हैं।'

पहले तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका समुच्चय बताया गया है। अब तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याके विषयोंका समुच्चय बतलाते हैं।

सम्भूतिम् ='सम्भवनम्'-जिसका जन्म होता है, कार्यब्रह्म और **असम्भूतिम्** ='असम्भवनम्'-जिसका जन्म न होता हो, वह कारण-ब्रह्म। यह असम्भूति ही विनाश है; क्योंकि इसमें कार्यावस्थाका लय हो जाता है।

यद् दृष्टं तन्नष्टं यज्जन्यं तदनित्यम्।

जो दृश्य है, वह मरणधर्मा है जो उत्पन्न होता है, वह नाशवान् है।

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंका प्रयोग एक व्यक्ति करता है, अतः देखना यह आवश्यक है कि उन्हें उसने कहाँ लगाया है- कार्य-ब्रह्ममें या कारणब्रह्ममें। केवल कारणब्रह्ममें जिसने लगाया है

वह अन्धन्तममें प्रवेश करेगा। और उससे अधिक अन्धन्तमकी प्राप्ति उसे होगी जो केवल कार्यब्रह्ममें रत है।

असम्भूति=कारणब्रह्म। यहाँ उपासनाकी बात है, बोधकी नहीं; क्योंकि सर्वत्र 'रत' होनेकी बात हैं, जाननेकी चर्चा नहीं है।

कार्यब्रह्म यह जगत् है। यह शरीर है। देहकी सेवामें लगना, कार्यब्रह्मकी सेवामें लगना सम्भूति है। इसका जब कारणब्रह्मकी रतिकी ओर विस्तार होता है तो परिवार, ग्राम, धर्म, समाज, राष्ट्र, विश्व और उसमें भी मानवता, समस्त प्राणियों एवं निखिल भूमण्डलकी सेवाका इस प्रकार विस्तार होता जाता है।

एक व्यक्ति, एक परिवार, एक समाज या एक राष्ट्रकी उन्नतिके लिए योजना-एक परिस्थितिविशेषके लिए योजना और सार्वकालिक, सार्वदेशिक, प्राणिमात्रकी उन्नतिके लिए योजना। यह सार्वकालिक, सार्वदेशिक, समस्त प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसकी जो शाश्वत योजना है, उसीका नाम सनातन धर्म है।

देशकी सार्वभौमताकी सीमा ईश्वरमें समाप्त होती है। कालकी सार्वकालिकताकी सीमा भी ईश्वरमें समाप्त होती है और प्राणियों-पदार्थोंकी परिगणनाका विस्तार भी ईश्वरमें ही समाप्त होता है। अतएव कारणब्रह्मकी सेवा अर्थात् ईश्वरकी सेवा, ईश्वरकी उपासना।

कार्यब्रह्मकी उपासना अपूर्ण है। उसमें स्वार्थ है, संकीर्णता है, पतन है। जो विश्वकी उपेक्षा करके राष्ट्रकी बात करते हैं वे महायुद्धोंको जन्म देते हैं। जो राष्ट्रहितकी उपेक्षा करके जाति या समाजकी बात उठाते हैं वे साम्प्रदायिक कलह जगाते हैं। जो जाति या समाजके हितकी उपेक्षा करके अपने परिवारके हितमें लगे हैं वे स्वार्थी हैं और जो परिवारका हित छोड़कर केवल अपना ही

शारीरिक सुख मुख्य मानते हैं, वे तो पामर पुरुष हैं। इसलिए केवल कार्यब्रह्म यानी सम्भूतिकी उपासना अत्यन्त घोर तमस्में ले जानेवाली है। यह वर्ग उससे भी अधिक घोर तममें है, जो कारणब्रह्म यानी असम्भूतिमें लगे हैं।

लेकिन जो केवल असम्भूति-कारण ब्रह्ममें लगे हैं, वे भी अन्धन्तममें ही प्रवेश करते हैं। कार्यब्रह्मके त्यागसे विनाश होता है। विश्व-मानवताके नामपर जो राष्ट्रीयताको तिलाञ्जलि देते हैं, वे राष्ट्रका अहित करते हैं। राष्ट्रीयताके नामपर जो धर्म, जाति, वर्णकी उपेक्षा करते हैं, वे अपने वर्ण, जाति, समाजका अहित करते हैं। जो समाज-सेवाके नामपर परिवारकी उपेक्षा करते हैं, उनका परिवार नष्ट होता है। जो परिवारके लिए रात-दिन बेचैन होकर देहकी उपेक्षा करते हैं, उनका स्वास्थ्य एवं शान्ति नष्ट हो जाती है।

परिच्छिन्नको ग्रहण करके सर्वको छोड़ना सम्भूतिमें ही रत रहना है और सर्वको ग्रहण करके परिच्छिन्नको छोड़ना असम्भूतमें रत रहना है।

परमात्मा न अंश है, न अंशी। वह अनेक इकाइयोंका समुच्चय भी नहीं है। यहाँ बात एक इकाई-व्यष्टिकी, सम्भूतिकी और इकाइयोंकी समष्टि-असम्भूतिकी कही जा रही है। न केवल व्यष्टिमें लगना ठीक है, न समष्टिमें। व्यष्टि और समष्टिकी सेवामें सामञ्जस्यकी स्थापना आवश्यक है।

न केवल साकार-व्यक्तकी उपासना ठीक और न केवल निराकार-अव्यक्तकी उपासना ठीक। साकार-निराकार दोनोंमें सामञ्जस्य रखना ही ठीक है।

जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं, वे कारणब्रह्ममें लीन होते हैं। उन्हें स्वर्गसे ब्रह्मलोकतककी प्राप्ति सम्भव है। वे हिरण्यगर्भको

प्राप्त करते हैं। लेकिन श्रुति कहती है कि वे अन्धतमस्में प्रवेश करते हैं। वे वहाँके भोगोंमें आसक्त होकर जन्म-मरणके ही चक्रमें पड़े रहते हैं। उनका प्रयत्न, काल, देश, इन्द्रिय तथा विशेषमें यानी प्रकृतिमें ही सीमित है।

मूर्तिसे लेकर विराट्के पूजनतक और चींटीके देहसे लेकर मायाविशिष्ट ब्रह्मके पूजनतक उपास्यविषयक भेदज्ञानमें ही रम जाना, आगे न बढ़ना सम्पूर्ण अद्वयज्ञानमें बाधक ही है।

इन असम्भूति या कारणब्रह्मके उपासकोंसे भी अधिक तमस् में वे हैं जो कार्यब्रह्म-सम्भूतिमें रत हैं। क्योंकि उनका विषय तो स्थूल देह, स्थूल जगत्, स्थूल विषयमें रत रहनेवाले कारणब्रह्म-चेतन तत्त्वको तो मानते हैं; किन्तु सम्भूतिमें रत रहनेवालोंकी परिणति तो जड़त्व ही है।

●

त्रयोदश मन्त्र

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।13।।

(शास्त्र) **सम्भवात्** =कार्यब्रह्मकी उपासनासे, **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल, **आहुः**=बतलाते हैं, (और) **असम्भवात्** =कारण ब्रह्मकी उपासनासे **अन्यत्** =दूसरा फल, **आहुः**=बतलाते हैं, **इति**=इस प्रकार, (हमने) **धीराणाम्** =तत्त्वसाक्षात्कारी धीर पुरुषोंके **शुश्रुम**=विधिपूर्वक वचन सुने हैं, **ये**=जिन्होंने, **नः**=हमें **तत्** =सम्भूति और असम्भूतिको, **विचचक्षिरे**=भलीभाँति व्याख्या करके बतलायी है।

विद्या अविद्याकी पृथक् उपासनाके फलोंको जैसे पीछे अनादि परम्परा प्रमाणित बताया वैसे ही यहाँ सम्भूति, असम्भूतिकी पृथक उपासनाके कथित फलोंको अनादि परम्परा-प्रमाणित बतलाते हैं।

सम्भूति या कार्यब्रह्मकी उपासनाका फल दूसरा है। यह व्यक्त जगत्के विषयोंमें लगता है। इससे जड़ताकी प्राप्ति होगी। जड़वादिता, संकीर्णता आयेगी।

असम्भूति या कारणब्रह्मकी उपासनाका फल दूसरा है। इससे मनोराज्य तथा बौद्धिक तर्कवादिता बढ़ेगी।

कारणब्रह्मकी ही उपासनामें जो रत रहेगा, उसके द्वारा कार्यब्रह्मकी उपेक्षा होनेसे देह, परिवार, जाति, राष्ट्र आदिके हितोंकी उपेक्षा होगी। साधारण व्यावहारिक जीवन क्षतिग्रस्त होगा।

जो केवल कार्यब्रह्ममें लगेगा, उसमें देहात्मविद्या, संकीर्णता स्वार्थ तथा वर्ग-संघर्षका दोष बढ़ेगा। उसके द्वारा भी विनाशकी सृष्टि होगी। अतः दोनोंका समुच्चय इष्ट है। ●

चतुर्दश मन्त्र

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।14।।

यः=जो, **सम्भूतिं च विनाशं च**=सम्भूति और विनाश, **तद् उभयं सह**=दोनोंको साथ-साथ, **वेद**=जानता है, (वह) **विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा**=विनाशसे मृत्युको पार करके, **सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते**=सम्भूतिसे अमृतत्वका आस्वादन करता है।

'विनाश' अर्थात् विनाशप्राय अवस्था, कारणब्रह्म, असम्भूति।

विनाश (असम्भूति)के द्वारा देहासक्तिका त्याग करता है। देहकी कारणावस्थाका विचारकर अथवा मन द्वारा उपासना तथा बुद्धि द्वारा सदसद्विवेककर देहासक्तिसे ऊपर उठ जाता है। इसके बाद सम्भूतिसे या कार्यब्रह्मसे अर्थात् कर्म करके चरित्र-अन्तःकरणकी शुद्धि सम्पादन करके अमृतत्वका पात्र बनता है।

विद्या और अविद्याके वर्णनके तीन मन्त्र उपासना-विषयक हैं और सम्भूति-असम्भूतिके ये तीन मन्त्र उपास्य-विषयक हैं।

●

पञ्चदश मन्त्र

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।15।।

हिरण्मयेन पात्रेण=हिरण्मय पात्रसे, **सत्यस्य मुखम् अपिहितम्** =सत्यका मुख ढँका हुआ है। **तत्** =अतः **पूषन्**=हे पूषन् ! **सत्यधर्माय दृष्टये**=मैं सत्यधर्मा उसका साक्षात्कार कर सकूँ, इसलिए, **त्वम् अपावृणु**=तुम उसे हटा दो।

नवमसे लेकर चतुर्दश मन्त्रपर्यन्त वर्णित कर्म एवं उपासना द्वारा कार्यब्रह्म एवं कारणब्रह्मके अनुभवके द्वारा उच्च स्थितिमें पहुँचा मुमुक्षु साधक, परमात्मासे आवरण-भङ्गकी प्रार्थना अगले दो मन्त्रोंमें करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण=जिससे रस पिया जाय, द्रव्य पिया जाय, वह पात्र। 'पिबन्ति अनेन इति पात्रम्' जिससे लोग पीते हैं। जहाँसे कर्मका स्वाद आता है, जहाँ कर्मके संस्कार एकत्र रहते हैं वह समष्टिके संस्कारका पात्र 'हिरण्मय' है। मिट्टी, लोहा, चाँदी आदि धातुएँ अग्निमें भस्म हो जाती हैं; किन्तु स्वर्ण भस्म नहीं होता। अतः उस संस्कार-पात्रको हिरण्मय कहनेका तात्पर्य है कि वह स्वतः क्षीण या नष्ट नहीं होता।

समष्टिके सूर्य, समष्टिकी वासना तथा समष्टिके अहंके उदय तथा विलयका वह स्थान है। सबके कर्म, वासना तथा अहंका रस, सबके कर्म वासना, अहंके बीज यानी संस्कार उसमें दृढ़तापूर्वक रखे हैं। संसारमें बोनेके लिए रखे बीज जैसे अनेक बार घुन जाते, सड़ जाते हैं और उनमें अंकुरोत्पादन-योग्यता, बीजत्व नहीं रह जाता, ऐसी बात उस हिरण्मयपात्र या हिरण्यगर्भके सम्बन्धमें सम्भव नहीं है। वह अनादिकालसे सबके कर्म, वासना तथा अहंके

बीज अपनेमें धारण किये हैं और प्रवहमानरूपसे अनन्त कालतक धारण किये रहेगा।

वह 'हिरण्मय पात्र' है अर्थात् उसमें प्रकाश, सत्ता तथा प्रियत्व भी है। नेत्रमें जो ज्योति है, अग्निमें जो तेज है, सूर्यमें जो भास्वरता है, सभी प्रकाश उसीसे निकले हैं। सबकी बुद्धिका वही उद्गम है। बया पक्षीकी बुद्धि, चींटीकी बुद्धि, मनुष्यकी प्रतिभा सब उसीसे आयी हैं। सबके 'अहं'के बीज भी उसीसं निकले हैं।

'अहं' दो प्रकारका होता है : 1. एक अध्यासवृत्तिसे और 2. दूसरा अध्यारोपित वृत्तिसे। 'मैं देह हूँ', 'मैं प्राणी हूँ' यह 'अहं' अध्यासवृत्तिसे हुआ है। शरीरमें, प्राणित्वमें अपना अध्यास हो गया है। बच्चेको न सिखाया जाय तो भी जब वह बड़ा होगा, यह 'अहं' उसमें जाग्रत् हो जायगा। दूसरा अध्यारोपित वृत्तिका 'अहं' है-'मैं हिन्दू हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं भारतीय हूँ' आदि। यह बच्चेको कोई न सिखावे तो नहीं आयेगा। 'मैं मनुष्य हूँ' यह 'अहं' भी भेड़िये आदिसे पालित बच्चोंमें नहीं होता अतः मानवताका 'अहं' भी अध्यारोपित ही है। जो सहज न हो, पीछेसे अध्यारोप किया गया हो, ऐसा अहंकार है यह। जैसे, 'मैं संन्यासी हूँ' यह पश्चाद्वृत्तिसे (संन्यास ग्रहणके पश्चात्) यह अध्यारोपित 'अहं' उत्पन्न होता है, वैसे ही 'मैं ब्राह्मण, मैं हिन्दू, मैं भारतीय' आदि अहं भी पश्चाद्वृत्तिसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः ये अध्यारोपित हैं।

अनादि अज्ञान अनुसृतवृत्तिसे अध्यासजन्य 'अहं' उत्पन्न होता है कि 'मैं देह हूँ'। उससे छूटनेके लिए वैराग्य-विवेकके जागरणके साधनरूपमें, आचार एवं अन्तःकरणकी शुद्धि तथा विषयाभिमुख प्रवृत्तिपर अंकुश लगानेके लिए गुरु तथा शास्त्रके द्वारा अध्यारोपित 'अहं' उत्पन्न किया जाता है। यह अध्यारोपित बुद्धि कि 'मैं ब्राह्मण

हूँ, मैं हिन्दू हूँ, अनेक उच्छृङ्खलताओंपर अंकुश लगाती है। इसके द्वारा प्रवृत्तिका वेग घटता है।

अब यह मान लें कि कोई इसी जीवनमें मुक्त नहीं हुआ और 'मैं ब्राह्मण, मैं हिन्दू' जैसे अध्यारोपित संस्कारके बीज लेकर मर गया तो भी वह बीज नष्ट नहीं होगा। किसी समय जब वह जन्म लेगा, वह बीज जाग्रत्, अंकुरित होकर उसे पुनः निवृत्तिकी ओर ले जायगा और अन्तमें अध्याससे मुक्त करेगा। अतः अध्यासजन्य अहंकारकी निवृत्ति ही गुरु तथा शास्त्रद्वारा अध्यारोपित संस्कार उत्पन्न करनेमें मुख्य हेतु है।

'हिरण्मयपात्र' अर्थात् हिरण्यगर्भमें संस्कारोंके त्रिविध बीज हैं–1. उसके सद्भावमें आकृतिके बीज हैं जो जन्म-मरणके हेतु हैं; जन्म और मृत्यु आकृतिकी ही होती है। 2. उसके चिद्भावमें बुद्धिके बीज हैं। यह जड़ता-मूर्खता एवं प्रतिभाके हेतु हैं। 3. उसके आनन्दभावमें प्रियत्वके (अहंके) बीज हैं। इससे राग तथा द्वेषका प्रस्तार होता है। हिरण्यगर्भमें जो प्रियत्व है, वही उसकी रंगीनी है। उसमें जो बुद्धि है, वही उसका प्रकाश है और उसमें जो आकार-धारणकी योग्यता है, वही उसकी सत्ता है। इस प्रकार आकृति-बीज, प्रियत्वके बीज तथा वृद्धिके बीजोंकी समष्टिसे युक्त ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ कहा गया है।

चिद्दृष्टिसे व्याकृतावस्था हिरण्यगर्भ है और अव्याकृतावस्था ईश्वर। जड़दृष्टिसे व्याकृतावस्था महत्तत्त्व है और अव्याकृतावस्था प्रकृति है। व्याकृतका अर्थ है विशेषाकार-प्राप्त या विविधाकार-प्राप्त। ईश्वरका अन्तर्यामी स्वरूप केवल सृष्टिकालमें है; क्योंकि सृष्टि रहेगी तभी वह अन्तर्यामी तथा नियन्ता रहेगा। प्रलयकालमें केवल ईश्वरत्व ही है! हिरण्यगर्भमें कर्तृत्व भी है। अतएव कर्तृत्व

तथा नियन्तृत्व दोनों जिसमें हैं और ओ कर्तृत्व, नियन्तृत्व न रहनेपर (सृष्टिका प्रलय होनेपर) भी रहता है, वह ईश्वर है। ब्रह्ममें बीजकी ही सिद्धि नहीं है। उसमें न सृष्टि है, न प्रलय। वह तो निर्बीज, नित्य एकरस, अपरिच्छिन्न, निर्विशेष सत्ता है। वह कर्तृत्व, नियन्तृत्व तथा ईशत्व इन तीनोंसे परे सन्मात्र है। अध्यारोप-विधिसे ही उसे साक्षी कहते हैं; क्योंकि साक्ष्य-साक्षीभाव उसमें नहीं है।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।

कल्पित संवृत्तिसे ही 'अजन्मा' भी कहते हैं। परमार्थतः तो उसे 'अज' भी नहीं कहा जा सकता।

वह तो 'सत्यस्य सत्यम्' है। एक सांवृतिक सत्य और दूसरा परम सत्य। सांवृतिक सत्यके अतिरिक्त एक व्यावहारिक सत्य भी है। जैसे रोटी व्यावहारिक सत्य है। शरीरके पोषण तथा संसारके व्यवहारके लिए जिन पदार्थों या कार्योंकी आवश्यकता है, वे व्यावहारिक सत्य हैं। विचारके क्षेत्रमें तो रोटी पञ्चतत्त्वोंसे भिन्न कुछ है नहीं।

ब्राह्मणत्व, संन्यासित्व तथा जीवत्व भी सांवृतिक सत्य हैं। 'मैं अन्नमय कोष नहीं', 'मैं प्राणमय कोष नहीं', 'मनोमय या विज्ञानमय कोष नहीं', 'मैं आनन्दमय कोष भी नहीं।' इस प्रकार निम्नावस्थासे उत्थानके लिए, प्रतिगामी विधिसे जो संवृति उत्पन्न की गयी. वह सांवृतिक सत्य है। सांवृतिक सत्यका अर्थ है कि सत्यपरसे किञ्चित् आवरण हटाया गया है। क्रमशः सत्यका आवरण इसके द्वारा हटाया जाता है। सत्य इसमें किञ्चित् आवृत है। कर्तृत्व और अकर्तृत्व ये दोनों सांवृतिक सत्य हैं। जब इनसे ऊपर उठकर अपनेको आत्मरूपसे अकर्ता, अभोक्ता जान लेंगे तब हिरण्मय पात्रसे मिलनेवाला कर्म, वासना तथा अहंका रस आवश्यक हो जायगा। इसीलिए आदेश है :

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्, ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा, वनाद्वा।

जब वैराग्य हो तभी संन्यास ग्रहण कर ले; चाहे गृहस्थाश्रमसे सीधे संन्यासी हो जाय या ब्रह्मचर्याश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रमसे।

ठीक 'सांवृतिक सत्य'के प्रयत्नके विपरीत प्रयत्न है सत्यको आच्छादित करनेका। 'हिरण्मयमात्र'से सत्यका मुख ढँका है। इसका एक पारलौकिक अर्थ भी है कि धनने आच्छादित कर रखा है। मूर्ख धनवानोंकी प्रशंसा लोग उन्हें विद्वान्, पण्डित कहकर करते हैं। पदाधिकारी किसी अनधिकृत विषयमें भी निर्णय देते हैं तो लोग उनके निर्णयको परम सत्य बतलाने लगते हैं। परीक्षित्को तक्षकके विषसे मुक्त करके जीवित करनेके लिए कश्यप नामक ब्राह्मण जा रहे थे। मार्गमें उन्हें तक्षक मिल गया और धन देकर उसने कश्यपको लौटा दिया। कश्यपकी विद्याका जो कर्तव्य था, वह स्वर्णसे ढँक गया।

सत्यस्यापिहितं मुखम्-पिहितका अर्थ ढँका हुआ है। पिधान तथा अपिधान ये दोनों शब्द ढक्कनके अर्थमें हैं। वह मुख जिसके द्वारा सत्यमें प्रविष्ट होते हैं, हिरण्मयपात्रसे ढँका है। सत्यका दर्शन विवेक-वैराग्य, शम-दम, उपरति-तितिक्षा, श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि द्वारा होता है; किन्तु कर्मके रस सुखमें प्रीति होनेके कारण यह द्वार आच्छादित है। जन्म-मरणमें प्रीति है, ज्ञान-अज्ञानमें प्रीति है, राग-द्वेषमें प्रीति है। वर्तमान रोग, बुढ़ापे आदिको न चाहना वर्तमानके मरण तथा नूतनके जन्ममें प्रीति है। बहुत बातें हैं जिनको हम जानना चाहते हैं; किन्तु शत्रुका बल, ज्ञान-प्रतिभा सुननेमें अरुचि है। यह ज्ञान-अज्ञानमें प्रीति है। राग तो है ही, द्वेषमें भी प्रीति है; शत्रुता त्यागना नहीं चाहते। इस प्रकार भोगासक्ति आनन्दकी दृष्टिसे, विज्ञानासक्ति चित्की दृष्टिसे और जीवनासक्ति सत्की दृष्टिसे-ये

सत्यके मुखपर ढक्कन है। इनमें लोभ, काम, क्रोध, मोह सभी आगये। इनके कारण ही शम-दम, विवेक-वैराग्यादि नहीं हो पाते।

तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। 'सत्य' वह परमात्मतत्त्व जिसका वर्णन 'अनेजदेकम्' 'तदेजति तन्नैजति' सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' आदि मन्त्रों द्वारा किया गया है।

'पूषन्' 'पुष्यतीति पोष्टा' सबको स्फूर्ति देनेवाला परमात्मा। माता बच्चेके शरीरको पोषित करती है। पिता ज्ञानका पोष्टा है और पत्नी रसकी पोष्टा है। लेकिन ये सब परिच्छिन्न पोष्टा हैं। सच्चा एवं पूर्ण पोष्टा ईश्वर है। पोष्टा और अनुग्रहीता ये दोनों अर्थ 'पूषन्'के हैं। 'पूषन् 'से तात्पर्य ईश्वर, गुरु अथवा इष्ट देवता (सूर्य, इन्द्रादि) है। अपने गुरु, ईश्वर अथवा इष्टदेवसे हमें यही प्रार्थना करनी है कि 'प्रभो! इस हिरण्मय पात्रके ढक्कनको दूर कर दो!'

तमसो मा ज्योतिर्गमय!

अन्धकारसे मुझे प्रकाशमें ले चलो। इस ढक्कनको अपनी शक्तिसे हटानेमें व्यष्टि या व्यक्ति असमर्थ है, अतः वह ईश्वरसे उसे हटा देनेकी प्रार्थना करता है।

पूषाका अर्थ ज्ञानोत्पादक है। **स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः** सम्पूर्ण ज्ञान जिससे विश्वको प्राप्त होता है और विश्वका सम्पूर्ण ज्ञान जिसके पास है, वह पूषा। सूर्य गतिशील है, प्रकाशक है और पोषक है।

यहाँ प्रयोजन तथा अधिकारी दोनोंका वर्णन है। प्रयोजन तो है 'दृष्टये' साक्षात्कारके लिए और अधिकारी है 'सत्यधर्माय' सत्य ही जिसका धर्म है, वह सत्यधर्मा। हमारा धर्म सत्य ही है। सत्यके अतिरिक्त और किसीको हम धर्म नहीं मानते। सम्प्रदायका धर्म हमें नहीं चाहिए, आचार्य-विशेषका धर्म हमें इष्ट नहीं और अवस्था-

विशेष समाधि आदिसे निर्णीत धर्म भी हमें ग्राह्य नहीं। इस प्रकार सम्प्रदायका सत्य, आचार्य-विशेषका सत्य, ग्रन्थविशेषका सत्य और अवस्था-विशेषके सत्यपर हमारी आस्था नहीं है। सत्यको ही मैं अपना धर्म मानता हूँ। 'दृष्टये' दृष्टिर् प्रेक्षणे-उस सत्यका ही मुझे साक्षात्कार करना है।

सत्य धर्मका दर्शन प्रयोजन है, सत्यधर्मा अधिकारी है, हिरण्मयपात्र आवरण है और उसे आराध्यकी सहायतासे हटाना है; क्योंकि अकेले नहीं हटा सकते।

सत्यधर्माय दृष्टये=सत्य धर्मकी प्राप्तिके लिए, यह दूसरा अर्थ सम्भव है। दूसरे धर्म सत्य हैं या नहीं, मुझे पता नहीं है। अतः सत्य धर्म क्या है, इसकी दृष्टि प्राप्त करनेके लिए।

सत्याय धर्माय दृष्टये-यह तीसरा अर्थ हो सकता है। सत्याय अर्थात् सत्स्वरूप, धर्माय अर्थात् आनन्दस्वरूप, दृष्टये अर्थात् ज्ञानस्वरूप-सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिके लिए, हे पूषन्! उस हिरण्मयपात्रके ढक्कनको हटा दो!

●

षोडश मन्त्र

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।16।।

पूषन्=सर्वपालक पूषादेव!; **एकर्षे**=एकाकी गमन करनेवाले **यम**=यम!; **सूर्य**=सूर्यदेव!; **प्राजापत्य**=प्रजापतिनन्दन!; **रश्मीन् व्यूह**=अपनी किरणोंको हटा लो; **तेजः समूह**=अपनी तापक ज्योतिको एक कर लो, उपसंहृत कर लो और अपने आपको प्रकट करो। फिर; **ते**=आपका; **यत्** =जो; **कल्याणतमं रूपम्** = अत्यन्त शोभन रूप है; **तत् ते**=उत्तापके उस रूपको; **पश्यामि**=मैं आपके कृपा-प्रसादसे देखता हूँ। **यः असौ पुरुषः**=जो आदित्य-मण्डलमें स्थित पुरुष है, **असौ सः अहम् अस्मि**=वही मैं हूँ।

पिछले मन्त्रमें प्रार्थना की गयी है कि 'हे पूषन् , जिस हिरण्मयपात्रसे सत्यका मुख छिपा है, उसे तुम हटा लो, जिससे मैं सत्य धर्मका दर्शन कर सकूँ।' अब इस मन्त्रमें उसी पूषासे फिर प्रार्थना की जा रही है और उस हिरण्मयपात्रका स्वरूप तथा उसके हटानेकी पद्धति भी बतायी जा रही है।

पूषन्=सबको पुष्ट करनेवाले सविता जो सबको इन्द्रियोंके, बुद्धिके तथा देहके पोषक हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

सम्पूर्ण उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंका स्वामी हिरण्यगर्भ है। सृष्टिसे पूर्व वह हिरण्यगर्भ ही था जिससे समस्त भूत प्रकट हुए।

एकर्षे=एक ऋषे, इसमें हिरण्यगर्भ, प्रपञ्च तथा ब्रह्मका एकत्व समझने योग्य है। ब्रह्ममें एकत्व गुण नहीं है, अद्वितीयताका

उपलक्षण है। अद्वितीय+अद्वितीय=अद्वितीय ही रहता है, दो अद्वितीय नहीं होता। अद्वितीयत्वमें विभाग, संकलन आदि नहीं हैं जैसे अद्वितीयका आधा, चौथाई, अष्टमांशादि भाग नहीं किये जा सकते और उसे गुणित भी नहीं किया जा सकता।

एकीकृत एकत्व हिरण्यगर्भमें है और अनेकीकृत एक प्रपञ्च है। महाप्रलयके पूर्व सृष्टिकालमें जो अनेक था, उस सब नाम-रूपके बीजकी समष्टि अपनेमें एकत्र करके प्रलयके समय वह एक रहता है। लेकिन प्रपञ्चमें अनेकीकृत एकत्व है। नाम-रूप भिन्न-भिन्न हैं, अन्तःकरण पृथक्-पृथक् हैं; किन्तु धातुकी दृष्टिसे सब एक हैं। एकका मुख्यार्थ ईश्वर है और लक्ष्यार्थ ब्रह्म है।

ऋचे=ज्ञानस्वरूप। सूर्य प्रकाशक होनेसे ज्ञानी है। **धियो यो नः प्रचोदयात्** कहकर उस सविता देवतासे प्रार्थना की जाती है। हिरण्यगर्भ अन्तःकरण समष्टिका प्रकाशक होनेसे ज्ञानी, ऋषि कहा गया है।

पहले मन्त्रमें हिरण्मयपात्ररूप पिधान हटानेकी प्रार्थना की गयी थी। इस मन्त्रमें प्रार्थना की गयी 'व्यूह रश्मीन् समूह।' इसका तात्पर्य यह है कि रश्मि ही हिरण्मयपात्ररूप पिधान हैं। रश्मियाँ अर्थात् वासना-समष्टि, उनका निराकरण कर दो! उन्हें हटा दो, जिससे आत्मस्वरूपका साक्षात्कार हो।

रुईका रेशा 'रश्मि' कहलाता है। रस्सी जैसी लम्बी होनेसे किरणें 'रश्मि' कही जाती हैं। ये रश्मियाँ ही बन्धनका कारण हैं अन्तःकरणमें जो अस्तित्व, बुद्धि और प्रियताकी धारा अनादि-कालसे प्रवाहित है, यही रश्मि है। ये चिदाभासरूपी रश्मियाँ ही दृश्यमें अहं-मम करके अपनेको बाँध लेती हैं।

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

जानकारी, कर्म तथा पूर्व प्रज्ञाके द्वारा अन्तःकरणका निर्माण होता है। हम कुछ जानते हैं पढ़कर, सुनकर और सोचकर, उसके संस्कार पड़ते हैं। जो कर्म हम करते हैं, उनके संस्कार हैं। पूर्व जन्मके कुछ संस्कार आये हैं। अनादि अविद्याके कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्वके संस्कार पृथक्-पृथक् अन्तःकरणमें पृथक्-पृथक् हैं। इन पृथक्-पृथक् चिदाभासरूप रश्मियोंका मूलस्रोत हिरण्यगर्भ है। इस हिरण्यगर्भसे निकली ये चमकती किरणें ही जड़को चेतन दिखलाती हैं। जैसे पत्तेपर किरण पड़ती है तो हरा पत्ता सुनहला दीखने लगता है। पृथक्-पृथक् अन्तःकरणमें जो चिदाभासके प्रकाशमें अहं-ममका पृथक्-पृथक् बीज है, वही बन्धनका हेतु है। इस प्रकार अनादि वासना ही चिदाभास रश्मि है; यही बन्धनका हेतु है।

इस बन्धनको हटानेके लिए प्रार्थना की जारही है। हिरण्यगर्भ पूषा है-वह सबका पोषक है। वह एक है, सबके चिदाभासकी समष्टि है। वह ऋषि है-मन्त्रद्रष्टा वही है। सृष्टिके आदिमें वही वेदमन्त्रोंका ग्रहण-दर्शन करके उसे भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें प्रकाशित करता है।

यम=अर्थात् नियन्ता या शासक। सृष्टिकालमें ही ईश्वर यम अर्थात् शासक है; क्योंकि सृष्टि रहेगी, तभी शासनकार्य रहेगा। प्रलयकालमें केवल ईश्वर है। यमका अर्थ अन्तर्यामी यानी सबके हृदयमें रहकर सबका शासन करनेवाला। अथवा सृष्टिकर्ता-नाम-रूपका निर्वाहक सविता देवता।

सूर्य=सूरिभिर्गम्यते इति सूर्यः अर्थात् महापुरुष जिसे प्राप्त करते हैं; वह परमात्मा। **प्राजापत्य**=प्रजापतिका प्यारा। जिसने प्रजापतिको वेदका ज्ञान दिया।

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाꣳश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।।

जिसने ब्रह्माको पहले उत्पन्न किया और उन्हें ज्ञान दिया, उस आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेवाले परमात्माकी शरण मुमुक्षु होकर मैं ग्रहण करता हूँ।

व्यूह रश्मीन् समूह=रश्मियोंको वर्गीकृत कर लो! समेट लो! जीवोंमें जो पृथक्-पृथक् भेद भासमान है, वह रश्मियोंसे ही है। अन्तःकरणके भेदसे ही चिदाभासके भेदका भ्रम हो रहा है। इन रश्मियोंको समेट लो और 'समूह' अपने-आपको प्रकट कर दो। सर्वान्तःकरणमें जो आपका एकत्व है, उसे व्यक्त कर दो।

दर्पणके भेदसे जैसे बिम्बमें भेद दिखायी देता है, घड़ोंके भेदसे उनमें भरे जलमें सूर्यका अनेक प्रतिबिम्ब दीखता है, वैसे ही अन्तःकरणके नानात्वके कारण चिदाभासमें नानात्वका भ्रम हो रहा है। अतः रश्मियोंको समेट लो! अन्तःकरणके भेदरूप अज्ञानका आवरण हटा दो।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि=यहाँ 'ते' दो बार आया है, अतः इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि आपकी कृपासे (तव प्रसादात्) आपका रूप (आपके द्वारा रश्मिसमूह हटाकर हिरण्मय पात्ररूप यह पिधान दूर कर देनेसे) मैं देख रहा हूँ। आपका यह रूप तेजोमय अर्थात् रश्मिभेद-रहित है। यह परम कल्याणकारक सर्वावभासक ब्रह्मस्वरूप है।

चक्षुषश्चक्षुः....प्राणस्य प्राणः।

जो नेत्रोंको देखनेकी शक्ति देनेवाला है, जो नासिका, त्वचा, रसना, कर्ण आदि समस्त इन्द्रियोंका, मन बुद्धि, प्राणका भी परम प्रकाशक है।

वह कल्याणतम है। जड़ता, जन्म-मृत्युसे असंस्पृष्ट, नित्य-नूतन है वह। चेतनमें जो वासनारूप संस्कार जुड़ गया था, उसके दूर हो जाने पर शुद्ध चेतनस्वरूपको देख रहा हूँ।

प्रश्न उठा कि उसे कैसे देखते हो? वह यह है, इस प्रकार 'इदं' रूपमें उसका दर्शन कर रहे हो क्या? इसका उत्तर मन्त्रमें आगे दिया गया है।

हिरण्मय-पात्ररूप पिधान हटा देनेपर, रश्मियोंको समेट लेनेपर यह जो है, वह तेजोमय है, ज्ञानस्वरूप है। कल्याणतम रूप है। यह पुरुष है-'पूर्णत्वात् ', पूर्ण होनेसे वह पुरुष है। 'पुरिशयनात्' पुरोंमें-अन्तःकरणोंमें शयन करनेके कारण वह पुरुष है। 'पुरुणि स्यतीति पुरुषः' अनेकताको छिन्न-भिन्न करके स्थित होनेसे वह पुरुष है।

असौ=यह दो बार आया है। यदि 'असौ' एक बार होता तो उसका तात्पर्य होता कि यह जो सूर्यमण्डलस्थ पुरुष अथवा हिरण्यगर्भ है, वह मैं हूँ, किन्तु 'असौ' दो बार आनेका तात्पर्य है कि यह जो प्रत्येक नाम-रूपमें भासमान पुरुष है, जो तृणमें-तरुमें, पशु-पक्षीमें, कीट-पतंगमें, भूमिमें-जलमें, अग्निमें-वायुमें, सर्व-व्यापक पुरुष है; वह मैं हूँ।

मैं वह हूँ, वह मैं हूँ, यही नहीं कहा जा रहा है। उससे मैं भिन्न नहीं, इसे सायुज्य कहते हैं। इसमें 'वह' की प्रतिष्ठा-प्राधान्य है। मुझसे वह भिन्न नहीं, यह केवल है। इसमें 'मैं'की प्रतिष्ठा प्राधान्य है। यह जो सर्वत्र भासमान पुरुष है, जिसे मैं अबतक भिन्न-भिन्न चिदाभास समझता था, 'सोऽहमस्मि' वह तो मैं ही हूँ।

●

सप्तदश मन्त्र

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।
ॐ क्रतो स्मरकृतꣳस्मर क्रतो स्मरकृतꣳस्मर॥ 17॥

वायु अनिलम् अमृतम् =यह प्राणवायुसे उपलक्षित लिङ्ग-शरीर सूत्रात्मासे एक होकर अमृतत्त्वको प्राप्त हो; **अथ इदं भस्मान्तं शरीरम्** =यह स्थूलशरीर भस्म होकर अपने उपादानकारण पञ्चभूतमें मिल जाय-भस्म हो जाय, ॐ=हे संकल्प प्रधान पुरुष!; **क्रतो स्मर**=तुम परमात्माका स्मरण करो। **कृतं स्मर**=अपने उत्तर कर्मोंका स्मरण करो। हे संकल्पप्रधान पुरुष! **क्रतो स्मर कृतं स्मर**=तुम अपने द्वारा अनुष्ठित कर्म और उपासनाओंका पुनः पुनः स्मरण करो।

यहाँतक शुद्ध ज्ञान, उसके लिए उपयोगी भोग-पद्धति, अर्थ-संग्रह और धर्मानुष्ठानका वर्णन किया गया और यह भी बतलाया गया कि ब्रह्मज्ञान और उसके साधनोंसे वञ्चित व्यक्ति आत्मघाती है। ब्रह्म और आत्माकी एकताका स्वरूप, जीवन्मुक्तकी विलक्षण स्थिति और ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी महिमा भी बतायी गयी। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए अन्तःकरण शुद्ध करनेके उद्देश्यसे कर्म, उपासना एवं उपास्य-कार्यब्रह्म और कारणब्रह्मका भी निरूपण किया गया। साधन एकाङ्गी न हो जाय और लक्ष्य भी अपूर्ण न रह जाय, इस दृष्टिसे कर्म, उपासना तथा कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म-इनकी अलग-अलग निन्दा करके इनका परस्पर समुच्चय किया गया और कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंके व्यवहारको संयत करने तथा एक दिशामें ले चलनेकी प्रेरणा दी गयी। इसके अनन्तर आवरण-भङ्गकी प्रार्थना की गयी। जिनका आवरण भङ्ग हो जाता है, वे जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, और उन्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ता; किन्तु

जिनका आवरण भङ्ग नहीं हुआ है, उन्हें अपने कर्म, उपासना और कार्य-कारणब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानके अनुसार गतिकी प्राप्ति होती है। अगले मन्त्रमें उसी गतिका और गतिके लिए आवश्यक कर्त्तव्यका निरूपण किया गया है।

जबतक ब्रह्मज्ञानके द्वारा मूलाविद्याकी निवृत्ति नहीं हो जाती तबतक लिङ्गशरीर भङ्ग नहीं होता। वह संसार-सम्बन्धी ज्ञान किये हुए कर्म और उपासनाके संस्कारोंसे युक्त रहता है और उन्हींके अनुसार गतियोंको प्राप्त करता है। यहाँ जिस अमृतकी प्राप्तिका वर्णन है, वह अमृत भी कर्मोपासना-साध्य अमृत है, सिद्ध अमृत नहीं है। इसलिए महाप्रलयके अनन्तर जब पुनः सृष्टि होती है, तब वहाँसे पुनः जन्म-मरणरूप संसारमें आना पड़ता है और फिर पूर्व संस्कारके अनुसार ही जन्म, कर्माधिकार, आयु और भोग आदिकी प्राप्ति होती है। इसलिए मनुष्यको मृत्युके समय बहुत सावधान रहना चाहिए। अविद्या निवृत्त हो गयी हो, तब तो स्मृति-विस्मृतिका कोई प्रश्न नहीं है; अन्यथा अन्तिम स्मृति भी अग्रिम जन्मका कारण बनती है। गीतामें कहा है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

इसलिए मृत्युके समय स्मृतिकी परिशुद्धि अत्यन्त अपेक्षित है केवल विस्मृति ही जड़-अवस्थामें जानेका कारण बनती है। इसलिए उस समय परमात्माका स्मरण होना चाहिए। यह पुरुष संकल्पमय है। संकल्पके अनुसार ही इसकी कृति, मति और गति होती है। इसलिए परमात्माका स्मरण अत्यन्त आवश्यक है। स्मरणके साधनोंमें नाम सर्वोपरि है और नामोंमें ॐ सर्वोपरि है। श्रुति कहती है-

ओमिति ब्रह्म नाम।

'ॐ' ब्रह्मका नाम है। गीतामें कहा है-'मृत्युके समय ॐकारका उच्चारण करके मेरा स्मरण करना चाहिए'- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्** । उसके उच्चारणसे प्रपञ्चाकार वृत्ति छूटती है, जड़ता निवृत्त होती है, अन्तर्मुखता आती है। स्थूल देहका मोह निवृत्त होनेसे मृत्युका कष्ट कम होता है और सूक्ष्म शरीरको अपने अभीष्ट लोकमें जानेमें सहायता मिलती है; क्योंकि ॐकार रक्षक है और विवेक द्वारा उसके परमार्थ तुरीयका ज्ञान न होनेपर भी वह जीवात्माको उठाकर कारण-अवस्थातक ले जाता है। इसलिए मृत्युके समय इस नामका उच्चारण कल्याणकारी है। अपने उत्तम कर्म और उपासनाओंके स्मरणसे भी चित्तमें पवित्रता, सद्भाव एवं श्रेष्ठ प्रज्ञाका जागरण होता है। आत्मतुष्टिका भाव होनेसे आनन्दकी अनुभूति होती है। इस प्रकार मनुष्य अत्यन्त उत्तम गतिको प्राप्त करता है। इसीसे इस मन्त्रमें कहा गया कि स्थूल देहका मोह छोड़ दो; क्योंकि यह तो भस्मान्त है और शीर्ण-विशीर्ण है। सूक्ष्म शरीरको सूत्रात्मा एवं कारणात्माकी ओर चलने दो और उसमें गति देनेके लिए तत्काल परमात्माके नाम 'ॐ'का स्मरण और उत्तम कर्मों तथा उपासनाओंका स्मरण करके आगे बढ़ो।

●

अष्टादश मन्त्र

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम।।18।।

विश्वानि वयुनानि विद्वान्=समस्त कर्म एवं प्रज्ञानको जाननेवाले, **देव**=द्योतनात्मकदेव; **अग्ने**=अग्निदेव; हमें, **राये**=कर्मफलभोगार्थ; **सुपथा नय**=शोभन मार्गसे ले चलें, साथ ही; **जुहुराणम् एनः युयोधि**=हमसे वञ्चनात्मक कुटिल पापको नष्ट कर दें। **ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम**=हम आपको बार-बार प्रभूत नमस्कार करते हैं, नमस्कार द्वारा आपकी सेवा, परिचर्या करते हैं।

इस प्रकार अन्त समयमें उत्तम गति प्राप्त करनेके लिए जीवात्माको क्या स्मरण करना चाहिए, यह आदेश देनेके अनन्तर अब उसे अन्तिम प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए, उसकी रीति बतलाते हैं।

यह मन्त्र इस उपनिषद्का ही अन्तिम मन्त्र नहीं है, अपितु शुक्ल यजुर्वेद संहिताकी दोनों शाखाओं-माध्यन्दिनी और काण्वका भी अन्तिम मन्त्र है। इसलिए भी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अग्नि ईश्वरका प्रतीक है, इसलिए अग्निसे की हुई प्रार्थना ईश्वरसे ही की हुई प्रार्थना है। इसमें सृष्टिकी लीला रचनेवाले देव लोकवत् लीलाप्रिय परमेश्वरसे यह प्रार्थना की गयी है कि 'हमें सद्गतिकी प्राप्ति हो। हमें दक्षिणायन नहीं, उत्तरायण गतिकी प्राप्ति हो। हम धूममार्गसे नहीं अर्चिमार्गसे जायँ; क्योंकि अग्नि देवता प्रकाशक, दाहक, अग्रणी

और अभिव्यक्त रूप हैं। इसलिए उनमें यह सब सामर्थ्य है। उन्हें बारम्बार नमस्कार करनेका अभिप्राय उनके प्रति अतिशय आदर प्रकट करना है।

इस मन्त्रमें 'अग्नि' और 'देव' दोनों ही पद ईश्वरके वाचक हैं। वही कर्माध्यक्ष और सर्वसाक्षी भी है। उसीकी कृपासे जीव कौटिल्यसे मुक्त होता है और सरल मार्गसे परमात्माको प्राप्त करता है। इसलिए केवल मृत्युके समय ही नहीं, आजीवन ही सुमार्गसे चलकर इष्टकी प्राप्तिके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिए। ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए अपने पास एकमात्र साधन है-'नमो नमः' नमस्कार, अभिमानका त्याग, ममताका त्याग, साधन-साध्य-सर्वरूपमें ही ईश्वरका आश्रय। वस्तुतः शरणागतिसे बढ़कर ईश्वरकी प्रसन्नताका और कोई उपाय नहीं है।

इस मन्त्रमें 'अग्नि' पद गुरुका वाचक है। वह देवरूप है। जो आगे ले चले सो अग्रणी। अग्रणी ही अग्नि है। वह 'देव' अर्थात् ईश्वरका स्वरूप है। उसीसे यह कहा जा रहा है कि 'आप हमारे चरित्र और बुद्धिके विद्वान् हैं। आप स्वयं ही हमारी योग्यता, आकांक्षा और अधिकारको समझकर उत्तम मार्गसे ले चलिये। हे गुरुदेव! ये कुटिलताके भावसे युक्त पाप हमारे साथ जुड़े हुए हैं। इन्हें आप ही हमसे विमुक्त कर दीजिये या इन्हें नष्ट कर दीजिये। हम आपके चरणोंके शरणागत हैं और बारम्बार नमस्कार कर रहे हैं।'

सद्गुरुसे प्राप्त ज्ञान ही जिज्ञासुके कल्याणका हेतु होता है, इसलिए उसे ईश्वरभावसे सद्गुरुकी शरण ग्रहण करके अपनी सहज कल्याण-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहिए, यही इस मन्त्रमें कहा गया है।

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

●

ईशावास्य
(प्रवचन)

संस्कृत वाङ्मयमें उपनिषद् शब्दका अर्थ ग्रन्थ विशेष नहीं, विद्या विशेष है। 'ब्रह्मविद्या' ही उपनिषद् है। विद्याका उदय हृदयमें होता है। जिस विषयकी विद्या उदय होती है, उस विषयकी अविद्या को निवृत्त कर देती है। 'ईशावास्य' इत्यादि अष्टादश मन्त्रसमूह शुक्ल यजुर्वेदान्तर्गत माध्यन्दिनी शाखाके चालीसवें अध्यायके रूपमें है। प्रथम मन्त्रके अनुसार ही उपनिषद्का नामकरण हुआ है। इसमें ब्रह्मज्ञान तथा उसके उपयोगी साधनों, बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग-दोनोंका स्पष्ट निरूपण हुआ है। मन्त्रसंहिताका होनेके कारण यह उपनिषद् सर्वमान्य है। यदि इसपर लिखे गये भाष्य, टीका-टिप्पणियोंको छोड़ भी दिया जाय तो भी मूल मन्त्रसंहिताका स्वाध्याय करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल मन्त्रोंमें तत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्तकी क्या रूपरेखा निश्चित की गयी है।

आनन्दकानन प्रेस
देहलीविनायक, वाराणसी • फोन : 2392337